गुप्त धन

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

प्रभात प्रकाशन
दिल्ली : मथुरा

आश्वासन

यह संसार आज दुःख का अगाध सागर क्यों बना हुआ है, मैंने जीवन भर यही सोचा है। इसी प्रश्न पर मैं निरन्तर विचार किया करता हूँ। इस सोच-विचार का परिणाम यह हुआ है कि मैंने एक गुप्तधन पा लिया है। आप मुस्कराते हुए पूछेंगे कि आखिर वह गुप्तधन है क्या? मुझे भी बतलाइये, मैं भी उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करूँ।

तो सुनिये।

वह गुप्तधन है मनुष्य के अन्तःकरण में वास करनेवाला उसका सत्य। वह सत्य, जो हमारे मन, वचन और कर्म की एकता का एक मात्र सूत्रधार है। वही हमारा बल है, वही हमारी शक्ति। उसके द्वारा हम अपने आपको ही नहीं, समाज और देश को भी सुखी, सम्पन्न और समृद्धि-शाली बना सकते हैं।

इस उपन्यास की कल्पना इसी आधार पर की गयी है। पर इस कल्पना की पृष्ठभूमि में एक परम पावन महामानव का मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी है। और एक दृढ़ विश्वास के साथ मैं यह कहने के लिए तैयार हूँ कि इस रचना से पाठकों को पूर्ण सन्तोष प्राप्त होगा।

—भगवतीप्रसाद वाजपेयी

एक

साधारण रूप से संसार में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं। पहले वे, जो *कामना के क्षेत्र में सिद्धान्त का कोई प्रतिबन्ध नहीं* मानते। अतएव आवश्यकता देखकर वे सहज ही कर्म की व्यवस्था कर लेते हैं। दूसरे वे, जो कामना की पूर्ति तो करना चाहते हैं, पर उसके लिए उन साधनों और उपकरणों का अवलम्ब कभी ग्रहण नहीं करते, जो केवल असत्य, अन्याय और अधिकारवाद पर आधारित रहा करते हैं।

रह गयी कामना की पूर्ति में जीवन-साफल्य की बात। सो सिद्धान्त-हीन व्यक्ति की सफलता, आदर्शों के लिए मर-मिटनेवाले व्यक्ति की असफलता से हीन होती है कि उच्च, इसका यथार्थ निर्णय तो भविष्य का आलोचक ही कर सकता है; क्योंकि दोनों प्रकार के जीवन समाज, देश और विश्व के लिए क्या अर्थ रखते हैं, यह तब स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है।

मनुष्य के भेदाभेद की इस अतिसाधारण कसौटी से आचार्य गौरीशंकर दूसरे प्रकार के व्यक्ति थे।

वे प्रयाग-विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक थे। अवकाश ग्रहण किये हुए उन्हें केवल पाँच वर्ष हुए थे। अपने कार्य-काल के अन्त में, कुछ वर्षों के लिए वे दर्शन-विभाग के अध्यक्ष भी हो गये थे। और तब, आचार्य के स्थान पर गुरुदेव कहलाने लगे थे। उनके सम्बन्ध में विश्वविद्यालय के बड़े-बड़े

आचार्यों और महापंडितों का तो यहाँ तक कथन था कि यदि वे स्वभाव के अत्यन्त गम्भीर—और एक सीमा तक तो असहिष्णु भी—न होते, तो उपकुलपति हो जाना भी उनके लिए एक साधारण बात होती। फिर भी इतना प्रभाव तो उनका अब भी था कि व्यवस्था के सम्बन्ध में उनकी सम्मति यदि कभी ली जाती, तो वह सदैव अमिट होती थी।

गुरुदेव का दर्शन विद्यार्थियों के बीच केवल भाषण करते समय होता था। अपने विभागीय कार्यालय में वे बहुधा कम मिलते थे। उनके अधिकाश दर्शनार्थियों को प्रायः निराश होना पड़ता था। कहते हैं, उपकुलपति महोदय के बँगले पर भी वे वर्ष भर मे एक-आध बार ही जाते थे—सो भी उनके विशेष अनुरोध पर। अन्तरंग गोष्ठियों में एक तो वे सम्मिलित ही बहुत कम होते; दूसरे यदि कभी होते भी, तो अपनी ओर मे न कभी कोई बात करते, न प्रस्ताव।

हो सकता है कि अपनी इस प्रकृति से वे यह प्रकट करना चाहते हों कि अब उनको कुछ भी कहना शेष नही है। चारों ओर जो कुछ और जैसा कुछ, दिखाई देता है, ससार के लिये वही यथार्थ है—वही सत्य और वही नित्य। न कहीं कुछ प्रच्छन्न है, न लुप्त। अन्तस्तल की यह विकार-शून्यता उनके मुख पर इतनी अधिक जाज्वल्यमान रहती कि उनकी मुद्रा मात्र मे झलमलाती रेखाओ और भंगिमाओं से सब कुछ स्पष्ट-ध्वनित और मुखरित हो उठता था।

गुरुदेव को क्रोध से बात करते हुए किसी ने कभी नहीं देखा। विरोधी मतों और तर्कों का उत्तर भी वे कोमल, संयत और शिष्ट भाषा मे देते थे। उनका हास शब्दो और ध्वनियों से ही

कभी-कभी—सो भी यत्किंचित्—झलक पाता था। होंठों पर यदि कभी आता भी था, तो बस उतने ही क्षण के लिए, जितने में उनकी उत्पत्ति मात्र उद्भासित हो जाय। दुःख प्रकट करने के लिए वे जगत् को कभी साक्षी नहीं बनाते थे। मानो इसके लिए वे अपने अन्तर को ही यथेष्ट समर्थ मानते हों। थोड़ा बहुत सम्पर्क और परिचय रखनेवाले व्यक्तियों को जब कभी उन्हें कुछ उलहना ही देना पड़ता, तो वे अत्यन्त संकोच के साथ कोई उत्तर न देकर केवल एक क्षीण मुसकराहट प्रकट कर देते; किन्तु उसके पश्चात् मन-ही-मन उसका कारण अवश्य खोजते। यदि कभी उन्हें अनुभव होता कि वास्तव में मेरे द्वारा किसी की उपेक्षा हुई है, अन्याय हुआ है—मैंने जान-बूझकर उसका उचित अनुरोध अंगीकार नहीं किया है—तो अपने लिए जिस दण्ड की व्यवस्था वे स्वयं, तत्काल कर डालते, उसका पता केवल उनके निजी कक्ष की मूक स्तब्ध दीवारों को ही लग पाता था। अपराध का प्रतिशोध वे इतने गुप्त ढंग से करते कि सम्बन्धित व्यक्तियों को तब तक कुछ भी अवगत न हो पाता था, जब तक उनका संकल्प रूप और आकार न ग्रहण कर लेता।

इस प्रकार वे जिस जगत् एवं वातावरण में रहते थे, उसको भी इस भाव परिवर्तनों और प्रतिक्रियाओं का ज्ञान निश्चित क्षणों से पूर्व कभी हो नहीं पाता था। वे एक ऐसे रहस्य थे कि विस्मय और विचित्रता उनके चारो ओर स्पष्ट और बिखरी रह कर भी सर्वथा निराकार और नीरव रहा करती थी। व्यक्तित्व, प्रभाव, लक्षण और गुणों की सीमाओं में असीम बनकर वे एक जाग्रत, चेतन और कर्मठ हिमालय के अपने नामानुरूप, उच्चकोटि

के ऐसे शिखर थे, जो दृढता, उज्ज्वलता, पवित्रता और कर्मण्यता में भारत का गौरव और संसार का अमिट ऐश्वर्य बना हुआ है।

गुरुदेव का रंग गेहुँआँ था। शरीर से वे कुछ कृश थे; यद्यपि जिन लोगो ने उन्हे युवावस्था में देखा था, उनका कहना है कि उस समय वे ऐसे कृश नही थे। जीवन के आघातों, कटु-तिक्त अनुभूतियो, सघर्षों और तत्सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं ने ही उनका गात इतना कृश बना डाला था। उनकी नासिका अब कुछ अधिक चौडी जान पडने लगी थी। केशराशि और भृकुटियों पर छायी लोम-पक्ति अब श्वेत हो रही थी, यद्यपि सघनता मे अब भी कोई अन्तर नही पडा था। कानों की ऊपरी सतह पर भी अब एक छोटी-मोटी लोम-राशि खड़ी हो गयी थी और नासिका-छिद्रो का सोमोल्लंघन करनेवाले लोमो के साथ-साथ कर्णलोमों पर दृष्टिपात करते क्षण उन्हे एक विशेप प्रकार की प्रसन्नता होती थी। उनका चश्मा अब पुराना पड गया था। हाट मे प्रचलित नाना प्रकार, रूप और अभिरुचि के चश्मों का सम्यक् ज्ञान रहने पर भी उन्हे चश्मा बदलना स्वीकार न था। मादक द्रव्यों से उन्हें सर्वथा अरुचि थी। उनके सम्बन्ध मे कतिपय उच्छृङ्खल और धृष्ठ छात्रों का तो यहाँ तक कहना था कि अजी शराब की शक्ल भी उन्होंने कभी देखी है, जो उसके गुणों अयवा अवगुणों के विषय में वे एक शब्द भी कह सकें। फिर उमरखैयाम जैसे फिलॉसफर को समझना ? लाहौल विला कूवत ! नामुमकिन है जनाब उनके लिए—बिल्कुल नामुमकिन।

लेकिन सुँघनी का प्रयोग अब वे करने लगे थे। इस कारण उनके नासा-लोमों से लेकर खिचड़ी हो रही मूँछो तक उसका भूरापन अब प्रायः स्पष्ट झलक उठता था। कोट वे बन्द-गले

का पहनते थे। शीत ऋतु में उनकी वेषभूषा गहरे कत्थई वर्ण की रहती थी और गर्मी के दिनों मे खाकी रेशमी खादी की। उनके पेट के एक जेब में खाकी सूती रूमाल रहता, दूसरे मे सुंघनी की डिब्बी। यह डिब्बी एक छोटे पके बेल को भीतर से खाली करके बनायी गयी थी और डाट उसकी तुलसी की सूखी डाल की गाँठ की थी। उनके कोट के भीतर जेब में आठ-दस इलायचियाँ पड़ी ही रहती थीं।

इन इलायचियों का प्रयोग वे प्रायः तभी करते, जब कोई ऐसा व्यक्ति उनसे मिलने आता, जिसको अत्यन्त प्रतिभाशाली होने के कारण वे सम्यक् समादरणीय मानते। चाय वे कभी पीते न थे। दूध केवल एक बार पीते थे, सोते समय। वह दूध भी उसी गाय का रहता था, जो उनके यहाँ पली हुई थी।

कहते है, उनकी इन रुचियों में परिवर्तन भी हुए हैं, पर बहुत कम। लेकिन जब कभी हुए, तो अनायास। किसी से उनको इस विषय में कुछ भी निर्देश पाने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

उनके मित्रों का समुदाय नहीं के बराबर था। अपनी मान्यताओं में वे इतने दृढ़ थे कि उनमें परिवर्तन करने के सम्बन्ध मे सम्बन्धियों का आग्रह और अनुरोध भी कभी सार्थक और सफल न हो पाता था। उनकी वेषभूषा, उनका वार्तालाप, व्यवहार और सहयोग, परामर्श और मन्तव्य, विचार और संकल्प एक ऐसे महान् व्यक्तित्व के सूचक थे, जो टूट सकता था, पर लच नहीं सकता। सरलता और दृढता, परिचय और घनिष्ठता, सम्बन्ध, मित्रता और आत्मीयता—यहाँ तक कि विरोध और प्रतिकूलता भी—उनके लिए समान और एकरस रहती थी।

बहुधा उनके द्वारा अपरिचित व्यक्तियों का ऐसा स्वार्थ-साधन हो गया, कि परिचितों और मित्रों के बहुत प्रयत्न करने पर भी वैसा फिर हो नहीं सका।

इन समस्त स्थितियों और घटनाओं का परिणाम अन्त में यह हुआ कि अब न तो उनका कोई मित्र रह गया था, न शत्रु। मित्रों को उनसे विशेष आशा न रहती थी और शत्रुता की बात तो उनके सम्बन्ध में कोई सोच ही न सकता था।

उनका निजी पुस्तकालय उनके महान् व्यक्तित्व के सर्वथा अनुरूप था। वेद, पुराण, उपनिषद्, शांकर-वेदान्त और रामानुज-दर्शन का उन्होंने विधिवत् अध्ययन किया था। जैन और बौद्ध दर्शन-ग्रन्थों का संग्रह उन्होंने बड़ी सतर्कता से किया था। पुरातत्त्व और इतिहास उनके अनवरत अध्ययन के विषय तो न बन पाये थे, पर सम्यक् ज्ञान उनका वे अवश्य रखते थे। नव-नव अनुसंधान और शोध-सम्बन्धी साहित्य को तो वे बड़ी रुचि और छानबीन के साथ पढ़ते थे।

उनके इस पुस्तकालय में जितनी भी पुस्तकें थीं, सब-की-सब उनकी बार-बार देखी और अध्ययन की हुई थीं, पर आज उनको खोलकर देखें, तो उनमें कहीं कोई धब्बा, रेखा या चिह्न आपको न मिलेगा। काल, ऋतु या वातावरण के प्रभाव ने भले ही उनके आवरण के वर्ण और जिल्द के अभिनव आकर्षण को अपेक्षाकृत शिथिल, म्लान और हल्का बना डाला हो; पर उन्होंने अपनी ओर से इस विषय में कोई त्रुटि नहीं आने दी।

सभा-समाजों और वाद-विवादों से अब उनको विरक्ति-सी

हो गयी थीं; यद्यपि उनके समकालीन विद्वानों का कथन था कि पूर्वनिर्धारित विषय न होने पर भी तीन घंटे तक धारा-प्रवाह परिष्कृत अँगरेजी अथवा हिन्दी में भाषण देना उनके लिए एक साधारण बात थी।

किस कारण समाज और संसार के प्रति उनमें ऐसी विरक्ति आ गयी थी, यह कोई नहीं जानता। इसको जान लेने का कोई साधन भी अब शेष नही रह गया है। हाँ, तरुणावस्था में एक दिन ऐसा आया था, जब कार खरीदने के लिए वे इलाहाबाद से कलकत्ता गये थे और उसी पर आसीन होकर वहाँ से लौटे भी थे। कहते हैं, आज वे जिस टमटम पर प्रातःकाल गंगा-स्नान को जाते हैं, वह उन्होंने लखनऊ में बनवाई थी और सच-झूठ की राम जानें, गाड़ी बनानेवाला भी एक ऐसा मिस्त्री था, जिसके पितामह नवाब वाजिदअली शाह के गाड़ीखाने के अध्यक्ष थे। और इसीलिए उस समय से वसीके के रूप मे एक रकम उसे बराबर मिल रही थी।

गुरुदेव के इस बँगले की परिधि यथेष्ठ विस्तृत थी। चारों ओर आम के वृक्ष मंजरियों से लदे मन्द-मन्द सौरभ बिखेर रहे है। कानों पर केलों की प्रलम्ब भुजाएँ लहराती पत्तियों के साथ झूम रही हैं। आमों की डालियाँ भूमितल से इतनी निकट हैं कि बालक भी सरलता से उन पर उछल-कूद मचा लेते हैं। ज्येष्ठ-आषाढ़ में जब उनमें आम परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, तब अपनी रुचि के अनुरूप चुन-चुनकर तोड़ने में जो सुगमता होती है, और खाते समय मधुरता की उपलब्धि में स्वाद का जो

आनन्द मिलता है, वह जल्दी भूल नही पाता और जीवन भर के लिए एक अनोखी स्मृति छोड जाता है। कदली-स्तम्भों के हल्के-गहरे हरे पल्लव, पवन-झकोरों से डोलते और लहराते हुए कभी-कभी कुछ संकेत-सा करते प्रतीत होते हैं। इन केलों तथा आमों के सम्बन्ध में किसी को कभी यह सोचने की आवश्यकता नहीं पडी कि इन्हें अव शीघ्र पक जाना चाहिए। यद्यपि केले तो समय से ही पके और पकने पर ही गुरुदेव की इच्छानुसार तोड़े और गिराये गये हैं; तथापि आमो को भी अपने आप पकने का यथेष्ठ अवसर दिया गया है।

तात्पर्य यह कि ये वृक्ष भी अपनी इच्छानुसार बढ़े, फैले और फूले-फले है। समय पर ही उन्हें मिट्टी, खाद, पवन, प्रकाश और जल मिला है।—और मिला है पुरुष जाति का वह सहयोग, सत्कार, आदर और उपभोग भी, जिसकी उन्हे कामना और आवश्यकता हो सकती है।

इस बँगले की वागवानी के लिए जो माली नियुक्त है वह यद्यपि अव वृद्ध हो गया है; तथापि उसका दावा है कि मेरे सिवा कोई इन पेड़ों की देख-रेख नही कर सकता। अगर कोई इसका साहस भी करे, तो उसके प्राणों पर आ वने।

इसके प्रमाण मे उसके पास अनेक प्रकार की कथाएँ है। और उसका कहना है, कि वे उतनी ही सच्ची हैं, जितना दिन का प्रकाश; क्योंकि उन्हे उसने अपनी आँखों से देखा है, अपने कानों से सुना है। यहाँ तक कि वह उनका एक दूरस्थ और सम्यक् तटस्थ अंग भी रहा है।

! आग के अलाव से हाथ-पैर और देह सेंकता हुआ, शीत ऋतु की लम्बी-लम्बी रातों में, वह ज्यों-का-त्यों बैठा रह गया है। न उससे उठा गया—न किसी ने उसे उठने दिया। ऐसे-ऐसे विचित्र स्वर उसने अपने कानों से सुने हैं कि कोई दूसरा सुन ले, तो सुनते-सुनते बहरा हो जाय! उसने क्रन्दन सुना है, लगातार कई-कई घंटों का। पन्द्रह-पन्द्रह बीस-बीस मिनट तक टिकनेवाली सिसकियाँ सुनी हैं। कई-कई पुरुषों और स्त्रियों के एक साथ दौड़ पड़ने, भागने और घसीटने का स्वर सुना है। ऐसा स्वर सुना है, जो कमरे के भीतर एक ओर से दूसरी ओर टहलने मात्र का है। रह-रहकर, रुक-रुककर उभरनेवाले नि:श्वासों का स्वर, लगातार कई-कई घंटों तक एक साथ। ऐसा स्वर सुना है, जो धीरे-धीरे मन्द होता-होता अन्त में विलुप्त हो गया है। ऐसा भी स्वर सुना है, जो बीच से ही कटकर समाप्त हो गया है। आह्वान, सम्बोधन, पीड़ा, चीत्कार और विस्मयात्मक दहाड़ का स्वर—प्रकृत और विकृत दोनों प्रकार के परिहास और अट्टहास का स्वर—मांगलिक गानों और फिर तबियत को बहलाने और गुदगुदाने वाली रागिनियों का स्वर—संसार की गति को स्पष्ट करता हुआ धैर्य, शान्ति और संतोष-दायक गीतों का चिरन्तन स्वर।

सुनने के अतिरिक्त जोधा ने इस बंगले में देखा भी बहुत कुछ है। कहता है, उसने पचासों तरह के तो केवल पैर-ही-पैर देखे हैं। जूतों, चप्पलों, स्लीपरों, चट्टियों और खड़ाउओं के अतिरिक्त नंगे पैर भी। तरुण स्त्री-पुरुषों और नादान बच्चों के, प्रौढ़ और वृद्ध नाना प्रकार के नर और नारियों के ऐसे पैर भी देखे हैं, जो कल तक तो आभूषणों और महावर की लाली से अनुरंजित और

अलंकृत रहे हैं; किन्तु आज ही सूने और मृत-श्वेत हो गये हैं! ऐसा भी पैर देखा है, जो गाँठ से काट डाला जाकर मरने से कुछ घंटे पहले ही स्वामी के शरीर की जिम्मेदारियों से मुक्ति पा गया है। ऐसी मुद्राएँ देखी हैं, जिनको एक बार देखकर मनुष्य का हृदय रखनेवाला व्यक्ति अविलम्ब-अनायास रो पड़े! छूटे हुए लम्बे केश—काले-घुंघराले, स्नेह और सुवास से सिक्त, चमकीले, मुलायम और चिकने; जिनके बीच मे पडी हुई लहरें जैसे बोल-बोल उठती है।—पीठ से लेकर कटि, फिर और भी निम्नतर होकर, जानुओं के आगे बढकर, गाँठ और पिंडुलियाँ छूते हुए। आँखें हँसती-मुसकराती, अबोध अधर खिलते-डूबते; पलक लगते, खुलते-मुँदते, भीगते और अश्रु गिराते। ऐसी आँखें जो पीत, लाल, श्वेत, हो-होकर सदा-सर्वदा के लिए खुली रह गयी हैं। कभी मस्तक पर रेखाएँ, भृकुटियों पर तनाव, कभी सिर हाथ पर टिका हुआ। पान की लाली, खुशबू और मुसकराहट बिखेरने वाले होठ, फिर विष के प्रभाव से जीवन और मृत्यु का संघर्ष बतलानेवाले शान्त, गम्भीर, स्थिर, चिर-स्थिर, स्पन्दन-मुक्त काले होठ! गले में फूलों की मालाएँ, गजरे और हार! या फिर ऐसा रुद्ध गला, जिसके अन्दर दवा प्रविष्ट ही नही हो पा रही है! नशे मे झूमता और एक ओर का झुका हुआ सिर—या फिर चिरनिद्रा में लीन, कभी न जगनेवाले महायात्री का-सा चिरशान्त, चिर-स्थिर, जड़!

रात के दो बजे थे। चन्द्रमा अस्त हो गया था। पवन सन-सन डोल रहा था। वृक्षों की पत्तियाँ और टहनियाँ बोल रही

थी। एक ऐसा स्वर उठ रहा था, जो एकरस-अविराम है और ऐसा जान पड़ता है, मानो अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक इसी भाँति प्रवहमान बना रहेगा।

जोधा कुछ सोच रहा है, सोच रहा है। फिर कभी खाँसता-खाँसना उठता है और उठकर खखार शान्तकर आता और पूर्ववत् बैठ जाता है। यकायक उसे ऐसा जान पड़ता है, मानो एक जोर के झटके के साथ बँगले भर के सारे दरवाजों के किवाड़ एक साथ खुल गये हैं और शत-शत व्यक्ति उससे बाहर निकल रहे हैं। नाना प्रकार के शब्दों, उद्‌गारों, कथनों और ध्वनियों के साथ। फिर उनका बाहर निकलना एक साथ शान्त हो गया है और शेष रह गया है पुनः उसी प्रकार पत्तियों और टहनियों का डोलना और पवन के साथ मुँह लगाकर बोलना सी ऽ! सी ऽऽ! सी ऽऽऽ!!! फिर एक घोर सन्नाटा और सभी कुछ शान्त, स्थिर, चुप!

इतने में गुरुदेव खड़ाऊँ पहने हुए खट-खट करते बाहर आ गये। एक ओर थोड़ा रुके और ठहरे; फिर धीरे-धीरे मन्दगति से ठहरते सोचते, और खोते, कुछ खोजते, चारों ओर चक्कर लगा आये। कहीं किसी वृक्ष के निकट भी गये; किसी शाखा पर अपना हाथ टेक दिया। कई मिनट तक खड़े रहे। फिर एक शीतल निःश्वास निकला। फिर निकलते-निकलते कट गया, दब गया, मर गया। फिर कई मिनट तक खड़े रहे, जैसे कुछ सोचते हों। फिर एक पग आगे रखा फिर दूसरा, फिर खट-खट खड़ाऊँ खटकाते अन्दर जाने लगे।

इसी क्षण जोधा ने खाँस दिया।

गुरुदेव ने थोड़ा ठिठक कर पूछा—"जगते हो जोधा?"

उत्तर मे जोधा बोला—"हाँ सरकार, नींद नही आती?"

गुरुदेव बोले—"आदमी हो न, इसीलिये। जानवरों को नींद खूब आती है।"

फिर क्षण भर चुपचाप खड़े रहे। फिर आप-ही-आप कहने लगे—"किसी की याद मत किया करो जोधा! कहीं कोई नहीं है।"

गुरुदेव भीतर चले गये। जोधा की आँखें भर आयीं। कन्धे पर पड़े हुए गमछे से आँसू पोंछता हुआ मन-ही-मन सोचने लगा—गुरुदेव यह कह कैसे पाते हैं कि किसी की याद मत किया करो! बीस वर्षों से वह उनको इसी बँगले में देखता है। इधर की बातें एक तो कुछ हैं नहीं। दूसरे, कुछ हों भी तो उनमें कुछ सार नहीं, रस नहीं। लेकिन उससे पहले की बातें!—उफ!!

जोधा सोचता है—गुरुदेव उन्हे भुला सकते हैं; क्योकि वे पढ़े-लिखे इतना ज्यादा हैं कि अगाध ज्ञान के नाते समुद्र है। संसार का माया-मोह उन पर कोई असर नहीं डाल पाता। लेकिन मैं? ऊँ हूँ! मैं तो संसारी जीव हूँ। मैं भला उन्हें कैसे भुला सकता हूँ!

स्मृतियाँ रूप और वाणी पा रही है। मानवात्मा स्वप्नों के पंखों पर बैठकर भ्रमण करने को निकली है। वह उन चिह्नों को देखना चाहती है, जो केवल कर्म के हैं—और शरीरान्त के पश्चात्

केवल विचार करने के लिए शेष रह गये हैं।—केवल आचार के है, विचारों की टकराहट भी जिन्हें टस-से-मस नही कर पाती!

—क्या मैं उन माँ जी को भुला सकता हूँ जो अन्नपूर्णा थीं; जिन्होंने मुझे जीविका दी थी और जिनकी बदौलत मैं आदमी बना। इसी घर मे जिन्होने कचन लुटाया और लुटाया सिर्फ हम दीन-दुखियो और गरीबों के लिए। कभी जो किसी ने उनसे दस रुपये माँगे, तो एक तो उन्होंने इनकार नही किया। दूसरे देते समय यह भी कह दिया—"और ज्यादा जरूरत हो, तो कह देना—सकोच न करना! ;—" हालाँकि इसका फल अकसर यही हुआ कि माँगने वाला जो लेने आया दस, तो ले गया बीस। ऐसी कितनी माताएँ इस दुनिया मे हैं?

फिर पलक भीग उठे है! फिर आँसू पोंछ लिये उसने। फिर ध्यान आ गया—चाभियों का गुच्छा? फिर उसे उसी जमीन पर से उठाती हुई कहने लगी थी—"मेरा कुछ नही है। अन्त मे जब सब कुछ तुम्ही लोगों को मिलना है, तो अभी क्यो न मिले! फिर, आँखों के आगे की बात और होती है। मरने के बाद क्या होगा, कौन जानता है!"

टप टप टप!

ये आँसू गिर रहे हैं जोधा के, या उसकी पावन आत्मा का रस झर रहा है!

उसे पता नही चल सका कि कब गुरुदेव चुपचाप निकट आकर उसे देखने लगे। फिर उसने गमछे से आँखो के आँसू पोंछे और जैसे चौंकते हुए एक ओर देखा!

"इस तरह रोया मत करो जोधा, भगवान की आँखें दुखने लगेंगी।"

जोधा एकटक गुरुदेव को देखता रह गया। यह उपदेश वह व्यक्ति दे रहा था जिसका कण्ठस्वर स्वतः आर्द्र था, आँखों का रस मानो कण्ठ को मिल रहा था।

ओ ऊर्ध्वमुखी हिमाञ्चल के शैल-शृंग गौरीशकर! ओ महापडित, तपस्वी और विचारक गुरुदेव! हिमाञ्चल भी कभी रोता है, यह मैंने नही सुना था।

ओ आर्यरत्न आचार-मनीषी! भगवान के प्रति यह तेरा कैसा कठोर व्यग्य है। दीन-दुखियों के क्रदन से कभी करुणापति की आँखें भी दुखी है!

दुखी है, तो आज के इस अतिसभ्य युग तक चला आया वृद्धिगत जनता का साधारण जीवन भी इतना दैन्य-दुर्दशा-ग्रस्त और नारकीय क्यों बना हुआ है? जब आज एक जाति दूसरी जाति का, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का कलेजा नोच-नोचकर चख रहा है, तब उन करुणापति की आँखें बन्द रहती है क्या?

जान पड़ता है, फिर गुरुदेव अन्दर चले। जोधा के हृदय मे फिर सावन के बादल आ-आकर घिरने और घुमड़ने लगे। अतीत का जीवन वर्तमान की गोद मे मुँह छिपाने लगा।

क्या है—क्या है रे? कुछ तो कह बावरे।

तब जीवन-इतिहास के कुछ पृष्ठ स्वप्न बनकर जोधा की कल्पना पर उतर आये।

—हाँ, तो फिर माँ के बच्चे हुए, थोड़े-थोड़े अन्तर से, एक-दो-तीन, लेकिन उन्हें भी एक-दो-तीन होते देर न लगी! रही केवल चेतना—उनकी वह भोली याद, जो भुलाई नही जा सकती,

जिसका अभी ब्याह भी नहीं हुआ !—जिसके पैरों में महावर छू भी नहीं गया !

टप टप टप !

—"इस तरह रोया मत करो जोधा ! संसार का कोई भी दुख केवल रोने से कभी दूर नहीं होगा।"

जोधा सोच लेता है, मानो गुरुदेव सामने आकर बोल उठे हों।—जबकि वे भीतर बैठे न जाने क्या सोच रहे थे !

—हाँ, तो वे, जो इस घर की लक्ष्मी थीं, जिनके साथ इन पिता-स्वरूप गुरुदेव की जिन्दगी बड़े सुख के साथ बीती, फिर उन्हीं से—ईश्वर जाने क्या बात हुई—गुरुदेव ने बोलना त्याग दिया !

—*हाय ! तब उन माँ जी ने शेष पाँच वर्ष किस तरह बिताये,* इसको मैं कैसे भूल जाऊँ ! उनके व्रतों, उपवासों, दान-पुण्य, भेंट-उपहारों, दया-ममता और धर्म-कर्म के नाना रूपों को कैसे भूल जाऊँ !

एक निःश्वास ! यह आँसू का बड़ा भाई है !

—सब कुछ भूल जाऊँ, लेकिन यह किस तरह भूल जाऊँ कि उन माँ जी ने अन्त में आत्मघात किया था ! और हाय रे दुर्भाग्य ! उनका शव जब इस बँगले से निकला; तब घंटे भर बाद इन्हीं गुरुदेव ने श्मशान-घाट पहुँचने पर कह दिया था—"मैं इसको अग्नि नहीं दे सकता !"

—जैसे अत्यन्त शान्त सुप्त वातावरण पर बिजली गिर जाय, जैसे अबोध बाल-नवशिशुओं की हँसती-खेलती दुनिया पर वज्र-पात हो जाय ! बिल्कुल ऐसी ही दुरवस्था हो गयी, उस पूतात्मा की, चिर विदा के बाद !

किन्तु गुरुदेव इसके बाद भी रुके नहीं। कुछ और आगे बढ़कर बोले—"वह मेरे हाथ की अग्नि पाने की अधिकारिणी नहीं है।"

सुनकर शत-शत सम्भ्रान्त व्यक्तियों का वह विस्तृत शिष्ट-समूह सन्न रह गया। चारों ओर से एक ही ध्वनि फूट पड़ी—"शिव शिव !"

जोधा ऐसे भयानक दृश्य की याद कर-करके मन-ही-मन धधकती भट्ठी-सा जल उठा। गमछे को घुटनों के साथ पीठ से बांधते-बांधते वह बड़बड़ाने लगा—"एक गुरुदेव क्या, भगवान विष्णु भी किसी के साथ ऐसा व्यवहार करें, तो मैं उनके मुंह पर ही कह दूं—'तुम देव नहीं, पत्थर हो पत्थर !"

फिर एक नि.श्वास !

'हूँ, मैं भूल जाऊँगा यह सब ! और उसके बाद यह भी भूल जाऊँगा कि अब इन देवता-स्वरूप गुरुदेव के दिन कैसे बीत रहे है !'

गुरुदेव को अन्दर गये देर हुई। जोधा ने उठकर चिलम के सूराख पर मिट्टी की गोल डली रक्खी; फिर उसमें तम्बाकू भर दी। फिर अलाव की आग से छोटे-छोटे टुकड़े निकाले, फिर चिलम पर उन्हें रखकर दो फूंक मारी, फिर तीन-चार कश लिये, खूब जोर के। फिर चिलम को एक ओर उलटकर वह चारपाई पर लेट रहा।

अब भी देर तक उसके मन पर यही समस्या एक महान प्रश्न के रूप में खड़ी रही—'गुरुदेव ने माँ के साथ ऐसा व्यवहार किया क्यों ?'

वार-वार उनका यह कथन जैसे उसके हृदय-पटल पर गाढी लाल स्याही से लिख-लिख जाता—

'किसी की याद में रोया मत करो जोघा। कही कोई नहीं है !'

दो

नाम तो है सत्यप्रकाश, लेकिन वचपन से ही घर की सीमाओं में सत्तू और वाहर सत्य कहलाता है।

उत्पन्न हुआ एक साधारण परिवार में, जहां पिता एक इण्टरकालेज में शिक्षक थे। दिन में वे स्कूल में रहते और सायं-प्रात: अतिरिक्त शिक्षण करते। रात को दस वजते-वजते सो जाना और फिर सूर्योदय होते-होते छोटे बच्चों को प्राय. सोता छोड़कर चल देना ही उनके भाग्य मे लिखा था। स्नान-पूजन और सबेरे का भोजन चालीस मिनट में हो जाता। हाँ, रात मे अलवत्ता, भोजन के समय थोड़ी देर टिकते। पर उस समय भी वच्चों को दुलराने, उनके आपस के झगड़े सुलझाने और प्यार भरे उलहनों का समाधान करने में प्रायः व्यस्त रहते।

उनका कहना था कि मनुष्य का दूसरा नाम है कर्म। इस-लिये जागृत और चेतन अवस्था में जितनी देर रहो, व्यस्त रहो —अन्यथा सो जाओ।

माँ करुणा ममता की मूर्ति थीं। वच्चों पर हाथ चलाना तो जैसे जानती ही न थीं। सप्ताह में दो दिन व्रत-उपवास में

व्यतीत करती और नित्यप्रति दो वार स्नान प्रत्येक ऋतु में अनिवार्य रहता। धैर्य, सन्तोष और शान्ति उनकी मुख्य प्रवृत्ति थी। इस कारण प्रत्येक स्थिति मे प्रसन्न रहना उनका गुण वन गया था। झूठ वोलने और धोखा देनेवाले को वे क्षमा नही कर सकती थी। किन्तु पर-दु:ख-कातर इतनी अधिक थी कि आवश्यकता पडने पर ऋण लेकर उसका काम चला देना उनके लिए एक साधारण वात थी। ऐसे भी दिन वीते है, जव उन्हें भोजन नही मिला, पर अन्तर्यामी के अतिरिक्त कोई यह जान न सका कि उन्होने उपवास किया है।

सत्य के पिता दो भाई थे, वेदप्रकाश और ज्ञानप्रकाश। वेदप्रकाश वड़े थे, यह सत्य उन्हीं का पुत्र है। ज्ञानप्रकाश छोटे थे। विवाह हो जाने के अनन्तर, प्रथम संतान उत्पन्न होते ही वे इस कुटुम्व से पृथक् हो गये हैं।

इस पार्थक्य का कारण था धन; कई लाख की सम्पत्ति भोग करने का अधिकार ससुराल से उन्हें प्राप्त हो गया था। लेकिन दैवयोगेन वह संतान दूसरे वर्ष ही दिवंगत हो गयी। फिर वारह वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी जव उनको पुन: संतानसुख प्राप्त नहीं हुआ, तव विवश होकर उन्होंने वड़े भ्राता वेदप्रकाश से इस सत्य को सदा के लिए माँगकर उसे अपना दत्तक पुत्र वना लिया।

उस दिन, जव सत्य का ज्ञान के यहाँ चला जाना निश्चित हो रहा था, करुणा रो पड़ी थी। अश्रु-विगलित कण्ठ से उसने कहा था—"सत्य केवल मेरा है, मैंने ही जन्मा है उसे। मेरी आत्मा का सारा रस लेकर वह उत्पन्न हुआ है। मेरी देह में—रक्त-मांस में, मेरी नस-नस के अमन्द-प्रवाह में, क्षण-क्षण पर

उठते-गिरते और स्थिर हो-होकर लहराते हुए मानव-लोक में, जो कुछ भी आनन्द, विह्वलता, राग-विराग, क्षोभ, मोह, विद्रोह और शान्ति है, वह सब-की-सब इसी एक सत्य में पुञ्जीभूत है। और उसी को आज तुम मुझसे छीन रहे हो! तुम्हें हो क्या गया है!"

सुनकर पहले तो विनतनयन वेद प्रकाश स्तम्भित हो उठे। पर फिर क्षण भर का भी विलम्ब किये बिना, दृढ़ता के साथ, सिर उठाकर बोले—"मैं पागल नहीं हो गया हूँ करुणा! मन, वचन और कर्म की सम्पूर्ण चेतना के साथ मैं कहता हूँ कि सत्य को इस समय ज्ञान की आवश्यकता है।"

"पत्थर है आवश्यकता!" लाल-लाल आँखों से अंगारों की सी लपटें उगलती हुई करुणा बोली—"साफ-साफ यही क्यों नहीं कहते कि चाँदी के चन्द टुकड़ों का तुम्हें मोह हो गया है!"

कोई अन्य प्रसङ्ग होता, तो करुणा की इस बात पर वेदप्रकाश उठकर चल देते। किन्तु उस समय वे प्रियतमा के इस कथन को विष के घूँट की भाँति पी गये। वह विचलित होने की बेला न थी। थी तो केवल एक पावन लालसा, जिसको वे आज तक प्राणोपम गुप्तधन की भाँति अपनी आत्मा के सर्वथा एकान्त क्रोड़ में, अन्यतम दृढ़ता के साथ, छिपाये हुए थे। वही उन्होंने उस समय प्रकट कर दी। बोले—

"मोह मुझको तो नहीं, हाँ तुमको अवश्य हो गया है। तुम चाहती हो, मेरा सत्य गरीबी की चक्की में पिस-पिसकर चाहे जितनी सिसकियाँ भर-भरकर रोये, नाना प्रकार की दुर्बलताओं, विकृतियों और प्रतिक्रियाओं का शिकार बन-बनकर अध:पतन के गह्वर गर्त में सदा के लिए गिरकर चाहे समाप्त ही क्यों न

हो जाय, लेकिन मेरे अञ्चल का छोर कभी न छोड़े, मेरी आँखों से ओट कभी न हो। मैं पूछता हूँ, यह मोह नही तो और क्या है? ···तुम यह भूल सकती हो कि मेरा सत्य किन स्थितियों में पैदा हुआ है।···तुम यह भी भूल सकती हो कि रसोई मे रोटी के नाम पर एक टुकडा न रहने पर जब कभी मैंने तुमसे तुम्हारे खाने के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब तुमने वास्तविक स्थिति पर धूल डाल कर सदा उखडे स्वर में यही जवाब दिया कि 'मैं ? मैं—तो खा चुकी हूँ।' लेकिन मैं यह कैसे भूल सकती हूँ कि उस स्वर मे सत्य अधिक प्रखर था, या स्वामी को खिला-पिलाकर स्वत: भूखी सो जाने मे वह पावन आत्मानन्द, जिसे नारी मातृ-जाति की होने के कारण मरणशय्या तक, मधुर-मधुर गन्धगर्भित अमृत-पेय की भाँति पान करती रहती है। उसे कभी भास ही नही होता कि आत्मानन्द की इस अनुभूति मे स्वामी का भी थोडा बहुत भाग होना चाहिये। सब कुछ बेचारी अकेली ही सहन करती जाती है। यह भी नही सोचती कि अकाल मृत्यु का यह निमंत्रण स्वामी के लिए कितना प्राण-पीड़क होता है! सहस्र-सहस्र वृश्चिक-दंशन की वेदना भी उसके समक्ष तुच्छ होती है। ···तुम्हे क्या पता कि दरिद्रता की गोद मे पलने, सड़को पर धूल-धूसरित डोलने और पैसे जोड़-जोड़कर, बचपन की मृदुल-से-मृदुल लालसाओ को भी मार-मारकर पनपनेवाले हमारे ये नन्हे-मुन्ने बालक जब वयस्क होकर सार्वजनिक सेवाओं के उत्तर-दायित्व-पूर्ण पद पर पहुँचते है, तब उन पदो की मान-मर्यादा और पावन-प्रतिष्ठा की कभी-कभी कितनी अवहेलना कर बैठते हैं! प्रारम्भ मे जिन आदर्शों की रक्षा के नाम पर वे एक साधक और तपस्वी कहलाते हैं, अनायास असाधारण सम्पत्ति-लाभ के

लोभ और सदा-सर्वदा के लिए एक बार ही सम्पन्न बन जाने के आकस्मिक संयोग को विधि का विधान और अमिट भाग्य-रेखा मानकर वे राष्ट्र का कितना अहित कर बैठते हैं ! तुम सोचती हो कि मेरा सत्य अब तक जिन सीमाओं में पला है, आगे भी वह उन्ही सीमाओं में विकसित होता जायगा ! लेकिन तुम यह नही सोचतीं कि बड़ा फल और मीठा रस उत्पन्न करने के लिए सतरे की डाल काट कर उसमे नीबू की कलम जोड़ देने की आवश्यकता पड़ा करती है !"

अपनी एक कटु बात के उत्तर मे वेदप्रकाश का ऐसा सार-गर्भित प्रवचन सुनकर करुणा जैसे चकित-विस्मित हो उठी। उसकी समझ मे न आया कि वह क्या उत्तर दे। ऐसे अप्रत्याशित किंवा उपयुक्त तर्कों का उत्तर तत्काल और तर्कसंगत ढङ्ग से देने का उसने न कभी अभ्यास किया था, न ऐसे वातावरण मे वह पली ही थी। अतएव जब उसे अपनी आन्तरिक मर्मवाणी प्रकट करने का और कोई मार्ग नही सूझ पड़ा, तब वह अत्यन्त विवश और असहाय-सी होकर बोली—"मेरा मुँह बन्द करने के लिए तुम चाहे जो कुछ कहो, लेकिन यह मेरी समझ में नहीं आता कि जो सुख-सौभाग्य भगवान ने मेरी गोद को दिया है, उसे मैं सिर्फ इस बात पर लुट जाने दूं कि मेरे पास रहने को महल और घूमने को मोटर नही है !"

"यही तुम गलती कर रही हो करुणा।"

पलँग से उठकर कमरे में टहलते और रुकते हुए वेदप्रकाश ने अपने स्वर को कुछ और अधिक कोमल बनाते हुए कहा—"यह कहना बहुत सरल है कि हमे पैसे की जरूरत नही है। और यह न कहने में भी बहुत अच्छा लगता है कि भगवान ने चनी;

भूसी जो कुछ भी खाने को दी है, हमें उसी में संतोष है। न हमें सोना चाहिये, न रेशम और तूस, न मोटर, महल और बँगला; पर आज के इस अर्थ-प्रधान युग में इस कथन का सम्मान-पूर्वक निर्वाह करना कितना कठिन है, कभी सोचा है तुमने ? कभी सोचा है तुमने कि आज दरिद्रता हमारे जीवन के लिए किस सीमा तक अभिशाप बन गयी है ? घर की चहारदीवारी में बन्द रहकर वास्तव में तुम कभी सोच ही नहीं सकती कि आज का दरिद्र मानव किस-किस प्रकार की प्रतिक्रियाओं, कैसी-कैसी दुर्वह मानसिक उलझनों और ग्रंथियों की लौह-शृङ्खलाओं में जकड गया है ! परन्तु आज की समस्याओं के अध्ययन की भूखी मेरी ये आँखें रात-दिन यही देखा करती हैं। जो युवक अभी कल तक अपने विद्यालय की सर्वोच्च श्रेणी में अच्छी तरह चल रहा था, जिसके लिए हम सोचने लगे थे कि महाविद्यालय में पहुँचकर वह अपनी संस्था के लिए गौरव का कारण बनेगा, वही नव-वर्षारम्भ में किसी महाविद्यालय में प्रवेश तो कर लेता है, पर फिर दो ही महीने बाद विवश होकर पचास-साठ रुपये मासिक का लिपिक बनने को इधर-से-उधर चक्कर काटता फिरता है !

"अभी हाल की बात है, विनयकुमार नाम का ऐसा ही एक युवक राजकीय महाविद्यालय में पढ़ते-पढ़ते अचानक गायब हो गया। महीने भर बाद एक दिन अचानक जब चौक में मिल गया और मैंने पूछा—'कहो विनय, सुनता हूँ आजकल तुमने पढ़ना छोड़ रक्खा है ?'

"नतशिर होकर उत्तर में उसने अपनी आँखें नीची कर लीं। बदली का दिन था। छाते के निम्न भागवाली नोक से धरती की मिट्टी कुरेदता हुआ बोला—'यह मत पूछिये पंडितजी।'

"मैंने पूछा—'क्यों, ऐसी क्या बात है ?'

"तब यह बोला—'क्योंकि मैं भी मनुष्य हूँ पण्डितजी' और बस उसकी आँखें भर आयी ; कण्ठ आर्द्र हो उठा !

"मैं उसे मार्ग से अलग कर एकान्त में ले गया। मैंने पूछा—'साफ-साफ बतलाओ, बात क्या है ? विश्वास रक्खो, मैं किसी अवस्था में इस रहस्य का दुरुपयोग न करूँगा।'

"तब रूमाल से आँसू पोंछता हुआ वह बोल उठा—'आप मेरे पिता के समान है। अत. मैं आप से कुछ न छिपाऊँगा।' और उसने बतलाया—'मेरे पड़ोस में एक लड़की रहती थी। नाम था उसका रक्षा। वह मुझे बहुत मानती थी। उसका कहना था कि एक दिन तुम बहुत बड़े आदमी बनोगे। यहाँ तक कि उस समय मुझसे बात भी करना पसन्द न करोगे !··· अभी हाल ही में एक डिप्टी-कलेक्टर के साथ उसका ब्याह हुआ है। जब वह ससुराल जाने लगी, तो मेरे मन में आया कि मैं उसे कोई ऐसी वस्तु भेंट करूँ जिसके द्वारा कभी-न-कभी उसे मेरी याद आ जाय। मैंने बहुत चेष्टा की कही बाहर से कुछ थोड़े रुपयो का प्रबन्ध हो जाय। पर यहाँ तो हालत यह थी कि कालेज में फीस जमा करने के भी लाले थे ! खैर, किसी तरह जब माँ ने फीस के रुपये दिये, तब मैं अपने आप को रोक न सका। पन्द्रह रुपये का एक शृङ्गार-दान लाकर मैंने उसे भेंट कर दिया !'

"मैं कहने जा ही रहा था कि प्रत्येक युग और समाज में इस प्रकार की सीमाहीन अदम्य महत्वाकांक्षाओं के आगे मनुष्य सदा असमर्थ और हीन बना रहेगा।··· इतने में विनयकुमार बोल उठा—'आप कुछ भी कह लीजिये पडितजी, पर यह मैं मानने को

तैयार नहीं हूं कि मैंने गलती की। क्यों कि यह भी तो सम्भव था कि उसे कुछ भी भेंट न कर पाने पर मैं आत्मघात कर लेता !' "

वेदप्रकाश अभी इतना ही कह पाये थे कि करुणा सिसक-सिसककर रो पड़ी। बोली—"बस-बस, मैं मानती हूं तुम्हारी बात। तुम आज ही सत्य को भेज दो शानू के पास। मैं भी नहीं चाहती कि अनिश्चित भविष्य के नाम पर गरीबी के कारण, मेरे सत्य की कोई भी इच्छा अधर में ही लटकी रहे।"

विवाद में पड जाने के कारण खाना ठंडा पड़ गया था। बच्चे सो गये थे। आंसू पोंछ-पोंछकर थोडी स्थिर होती हुई करुणा ने पूछा—"हां, यह तुमने नहीं बतलाया कि फिर उस विनयकुमार के लिए तुमने क्या किया ?"

वेदप्रकाश बोले—"मैं शिक्षक हूं करुणा। मेरा धर्म है, ऐसे छात्रों का निर्माण करना, जो आगामी कल के नागरिक बनते क्षण यह अनुभव करें कि जिस गौरवशाली देश में हम उत्पन्न हुए हैं, उसके प्रति हमारी कुछ जिम्मेदारियां है।...ऐसी दशा में मैं उस विनयकुमार को सहज ही कैसे छोड़ देता ! उसको शुल्क के भार से मुक्त करा देने के लिए अन्त मे मुझे विवश होना पड़ा !"

प्रत्यूप-वेला आते-आते स्याही-सी काली-कलूटी रजनी का अन्तर चीरकर जैसे बालरवि फूट पड़ता है; उथले, प्रवाहहीन, पंकिल सरोवर के श्यामल दुकूल पर जैसे नीलकमल मुकुलित हो उठता है; दुर्गन्ध-मुग्धा वीथिका की दक्षिण-भृकुटि पर, मादन वृक्षों के बीच, जैसे चलदल का वज्र-गर्भ अंकुर निकल पडता है, वैसे ही माध्यमिक विद्यालय की उस बाल-मंडली के बीच यकायक एक

सत्य प्रकट हो गया। देखनेवालो की आँखों मे चकाचौंध उत्पन्न हो गयी। नाना रूप, प्रकार और ध्वनियो मे भाँति-भाँति के कथन गूँजने लगे।

"तुम कुछ भी कहो, भाग्य बड़ी चीज है बाबू ! सुना तो होगा ?"

"क्या ?"

"हूँ, पूछते हो क्या ! अरे वह सत्य, जो अभी कल तक एक सामान्य अध्यापक का लड़का था, आज ज्ञानप्रकाश जैसे लखपती का पुत्र बन गया !"

"हाँ भई, भाग्य का तो सारा खेल ही है यहाँ !"

"इस लड़के को मैंने पहले भी देखा है। लेकिन यह तो आज राजकुमार जैसा लगता है। बिस्किट वर्ण की रेशमी शेरवानी और फ़ाइन लांगक्लाथ का चूड़ीदार पायजामा।···अरे-अरे, यह तो वही अपना सत्तू है, जो कर्नलगंज में अभी कल तक चट्टियाँ चटकाता फिरता था। धन्य हो प्रभु ! सब तुम्हारी ही लीला है ! मूक होहिं वाचाल पंगु चढ़हिं गिरिवर गहन !"

"यह घड़ी तुमने कितने में मोल ली ?"—राजीव ने पूछा।

"मुझे नही मालूम। चाचाजी ने खरीदी हैं।" सत्य ने उत्तर दिया।

"और यह फाउन्टेनपेन ?"

"यह भी।"

विनय उस फ़ाउण्टेनपेन को सत्य की जेब से निकालकर

देखता और बोल उठता है—"पारकर है।" फिर पेन उसे लौटाता और उभरती हुई ठंडी साँस को दबाता हुआ-सा बोल उठता है—

"अच्छा तो बन्दा चलता है। तुम्हारे लिए तो गाड़ी आती होगी।"

फिर कथन के साथ वह चलने भी लगता है।

सत्य बोला—"हाँ, आ तो गयी होगी। क्यों ? पर अब जाते किधर हो, चलो न मेरे साथ ?"

विनय सत्य की ओर देखे बिना बोला—"नहीं, तुम्हारे चाचा-जी को अच्छा न लगेगा।"

सत्य ने आवेश के साथ उत्तर दिया—"क्या बकते हो ! तुमने मेरे चाचाजी को समझा क्या है ! आओ, चलो इधर। तुम्हे चलना पड़ेगा।" कथन के साथ सत्य उसकी बाँह में हाथ डाल लेता है। दोनों स्कूल की सीमा से बाहर सड़क पर आते और एक गाड़ी की ओर बढ़ते हैं। सत्य ज्योंही गाड़ी के पास पहुँचता है, त्योंही विनय को आगे ठेलता हुआ बोल उठता है—"बैठो। लो, अब खड़े हो ! अरे, आज तुमको हो क्या गया है !"

विनय कुछ संकुचित होकर बोला—"पहले तुम्हीं बैठो।"

सत्य—"नहीं, पहले तुम्हें बैठना होगा।"

इस भाँति पहले विनय गाड़ी में बैठ जाता है, फिर सत्य।

तभी घोड़े की नंगी पीठ पर 'साप्प' शब्द के साथ चाबुक पड़ता है और गाड़ी चल देती है। सत्य कुछ सोचता रह जाता है। गाड़ी चलती जाती है। पहिये घूमते रहते हैं।

"हाँ, पहियों का काम है घूमना," वेदप्रकाश इक्के पर जाते

हुए अपने छोटे लड़के ब्रह्मप्रकाश को, समझा रहे हैं—"क्योंकि वे गोल होते है। हर एक गोल चीज घूमती और लुढकती हुई आगे बढ़ती है। तुम जिस गेंद से खेलते हो—खेलते हो कि नहीं ?"

"थेलते एँ !"

"वह भी गोल होता है। इसीलिए वह लुढ़कता हुआ दौडने लगता है।"

"अम बी दौड़ते एँ और फिल उछको उथा लेते एं।"

ब्रह्मप्रकाश अपनी आँखो की पलक उठाता और गिराता हुआ कहता और मुसकराता है। उसके हाथ मे कुत्ता है। उसे उसकी बडी बहिन शक्ति उससे छीन लेती है। फिर छीना-झपटी होती है। ब्रह्म कहता है—"कुत्ता मेला ऐ।"

और शक्ति कहती है—"हट्‌ ! तेरा कैसे है ? मेरे लिए वह आया था !"

ब्रह्म रोने लगता है। इक्का चलता जाता है।

वेद कहता है—"ए शक्ति, कुत्ता दे दे उसे। वह उससे खेलेगा।"

शक्ति उत्तर देती है—"मैं भी खेलूंगी। मुझे भी खेलना आता है।"

ब्रह्म का रोना जारी है। वेद शक्ति को समझाता है—"वह तुमसे छोटा है, इसलिए तुम्हे उसका खयाल करना चाहिये।"

"हूँ ! मुझे उसका खयाल करना चाहिए और उसको मेरी चीज हड़प लेने के लिए रोना चाहिये !"

यह शक्ति का उत्तर है।

वेद, ब्रह्म को गोद में लेकर उसे दुलराता है—"हम तुमको दूसरा कुत्ता खरीद देंगे।"

इतने में इक्का खड़ा हो जाता है। वेद शक्ति को उससे उतारता है। फिर ब्रह्म को गोद में लेकर—शक्ति की अँगुली पकड़कर—आगे फुटपाथ की ओर बढ जाता है।

"हूँ, तो तुमको किसी चीज की कभी आवश्यकता नहीं पड़ती !" ज्ञान ने सत्य से पूछा, जब वह उसके साथ बैठा खाना खा रहा था।

सत्य बोला—"जब आवश्यकता की सारी वस्तुएँ आप पहले-से-पहले लाते रहते हैं, तब और अधिक आवश्यकता की आवश्यकता ही क्या है ?" और कथन के साथ उसने गिलास उठाकर मुँह से लगा लिया।

ज्ञान सत्य की इस बात पर उसकी ओर देखता रह जाता है। इतने में माया बोल उठती है—"सत्य मेरा सतयुगी है सतयुगी। ऐसा न होता, तो मेरी गोद में कैसे आ जाता। तुम हजारों लड़के देख आओ, सत्य की जोड़ का एक मिले तो कहना।"

कौर उठाते-उठाते रुककर ज्ञान भौंहे चढ़ाता हुआ बोला—"बको मत। बेकार की बात मुझे पसन्द नही आती। कम-से-कम इतना तो खयाल किया करो कि तुम उसकी माँ हो।"

"माँ क्या मैं तुम्हारे कहने से हूँ ! वह तो मैं हूँ ही। लेकिन तुम यह क्यो नही सोचते कि मैं अगर उसकी माँ हूँ, तो तुम उसके पिता भी तो हो। अगर कुछ माँगने की उसकी आदत नही है, तो तुम्हे स्वतः बिना माँगे उसकी माँग पूरी करनी चाहिये। मैं

कितने दिनों से देख रही हूँ कि उसका गला सूना है। लेकिन तुमको कभी कुछ दिखाई पड़ा ?"

कथन के साथ माया ने गरम पराठा ज्ञान की थाली में रखने के बजाय इस तरह फेंक दिया कि वह उसके हाथ पर जा पड़ा !

"बस, लो यह प्रत्यक्ष हो गया कि तुम अन्धी हो रही हो !" ज्ञान माया की ओर दृष्टि डालता हुआ बोल उठा—"तुम्हारी आँखों में धुन्ध छा गयी है ! तुम्हें आजकल आयी-गयी कुछ भी नहीं सूझ पड़ती ! तुममें न ढँग से बात करने की योग्यता है, न सहूलियत से काम करने का शऊर।"

आलोचना करने का एक ढँग होता है। वह ढँग आलोच्य वस्तु के महत्व को गिराने के लिए नहीं, उसके गुणों की व्याख्या तथा अवगुणों की पृष्ठ-भूमि बतलाने और उनके मूल-भूत आधारों को स्पष्ट करने की अपेक्षा रखता है।

जब ज्ञान ने इसकी परवा न की, तो माया उसे सहन न कर सकी। वह बोली—"बस-बस, मैं ज्यादा सुनने की रवादार नहीं। —तुम्हारी योग्यता तुम्हारे काम आयेगी, मेरी मेरे काम। समझे कि नहीं ? मिसरानी लगा लो कल से। मैं कोई लौंडीबाँदी नहीं हूँ, जो रात-दिन तुम्हारी धौंस सहती रहूँगी। गरम पराठे को तुम हाथ में नहीं रोक सकते थे ?"

ज्ञान यहीं दुर्बल है। वह सोचता रह जाता है कि कुछ भी हो इस घर की शोभा एक उसी के दम से तो है !

सत्य की थाली का खाना समाप्त हो गया था। यह देखकर ज्ञान ने पूछा—"क्यों, खा चुके ?

सत्य बोला—"जी।"

तब ज्ञान ने कह दिया—"तो फिर उठो।"

सत्य चला गया, तो ज्ञान अत्यन्त कोमल वाणी में बोला—"आज से मैं तुमसे कभी कोई ऐसी बात न कहूँगा, जो तुम्हें बुरी लगे। ये लो, कान पकड़ता हूँ। अब तो खुश हो!"

माया का सारा क्रोध उड़ गया। आँखें घुमाती, मुस्कराती हुई फिर स्वामी के पास जाकर बोल उठी—"मुझे भी उसके सामने तुमसे इस तरह बात करने में जाने कैसा-कैसा लगा! बड़ा समझदार लड़का है। बिना मतलब कभी बोलता नहीं। दिन-रात न जाने क्या सोचता रहता है! कल तो ग्यारह बजे रात तक पढ़ता रहा। मैंने जब स्वयं जाकर बत्ती बुझाई, तब कहीं सोया। लेकिन तुमको भी सोने की एक जंजीर तो उसके गले में डाल ही देनी चाहिये।"

ज्ञान पानी पीकर उठता हुआ बोला—"जंजीर पहना भले ही दो, पर मैं जानता हूँ, वह दो दिन बाद ही उसे उतार फेंकेगा। न मानो तो पहनाकर देख लो।"

वेद ने सत्य को ज्ञान के हवाले तो कर दिया, लेकिन अब यह क्या है, जो उसके मन को दिन-रात मथा करता है?

एक बेलन है, जो उसके उर-अन्तर में अहर्निशि घूमा करता है। खाने में कोई रस नहीं है, सोने में विश्राम नहीं है। चलने-फिरने में कुछ ऐसा अनुभव होता है, जैसे वह बेहद थका हुआ हो।—यहाँ तक कि उसके पैर आगे नहीं बढ़ना चाहते। विद्यालय में पढ़ाते-पढ़ाते वह अटक-अटक जाता है। उसके छात्र प्राय. कह उठते हैं—'पण्डितजी, आपकी तबियत खराब है क्या?'···उसे

करुणा की ओर देखने का साहस नहीं होता। भय है कि आँख मिलने पर कहीं हृदय का वह चोर न पकड़ जाय, जिसका नाम है अनुताप।

एक अँगीठी है, जिसमें पत्थर के कोयले दहकते रहते है। कोई भी वस्तु उसकी ज्वाला मे ठहर नहीं पाती। एक आंधी है, जो दिन-रात सांय-सांय चला करती है। पेड़ गिरते हैं। मकानों के छज्जे उड़ते हैं। दीवारें ढह जाती है। अन्धकार, चारों ओर अन्धकार फैलता जाता है!

वेद आज अनुभव करता है—मैं कहाँ हूँ, नही जानता। कौन मेरे समक्ष है, नही कह सकता। मेरी गति, मेरी मति, आज मेरी यति बन गयी है। मैं बोलता हूँ, पर बोल नही पाता। मैं कहना चाहता हूँ, पर कह नहीं सकता। हाय मैं रोना भी चाहूँ, तो रो नहीं सकता! मेरी वाणी मूक है, मेरे आँसू निकलते ही नही। जान पड़ता है, मेरी चेतना खो गयी है। मेरे रक्त की गरमी धीरे-धीरे समाप्त होती जाती है। मेरा दम घुट रहा है, मेरी सांस फूल रही है। मैं किसी की बात सुन नहीं सकता, किसी से कुछ कह नही सकता। मैं शून्य हूँ, जड़ हूँ मैं। मैं कुछ नही हूँ। मैं स्वर-हीन राग हूँ, शब्द-हीन भाषा हूँ, प्राण-हीन जीव हूँ। मैं ऐसा लोभ हूँ; जिसकी कोई संज्ञा नही, रूप नही, गन्ध नही। मैं ऐसा मोह हूँ, जो स्वतः मुझे ही खाये जा रहा है! सोचता था—मैं त्यागी हूँ। किन्तु जिसकी पृष्ठभूमि मे मोह हो, सो भी ऐश्वर्य्य के भोग का, वह कभी त्यागी हो सकता है! छि! मैं सोचता था, सत्य के लिए सब कुछ चाहिये और चाहिये अनुभव करने के लिये। किन्तु वह अनुभव भी क्या, जो स्नेह-हीन, ममता-

हीन स्वतः आयोजित लोलुप कार्य-कलापों के प्रयोगात्मक रूपों और प्रकारों से उस तरह फूट निकले, जैसे व्रण निकलता है !

दूसरे ही दिन शक्ति ने वेद के गले में हाथ डालकर पूछा था—"पिताजी, सत्तू भैया क्या अब चाचाजी के यहाँ ही रहेंगे ? क्या वे हम लोगों को छोड़कर चले गये हैं ?"

कन्धा हिला-हिलाकर शक्ति पूछती है—"बोलो पिताजी !"

और ब्रह्म दौड़ता हुआ आकर कहता है—"तिपा दी ! ओ तिपा दी ! देखो, अम्मा लोती एँ !"

वेद उसे वक्ष में लगाकर चूम लेता और कह देता है—"अम्मा पगली हैं।"

इसके सिवा वह क्या उत्तर दे, कुछ भी उसकी समझ में नहीं आ रहा है। शक्ति उसकी ओर एकटक देखती रह जाती है।

एक दिन शक्ति बोली—"पिताजी, सत्तू भैया को बुला लो न ! अब हम उससे कभी नहीं लड़ेंगे। हम उसकी कोई चीज नहीं छीनेंगे।"

वेद के मन में आता है, वह शक्ति को डाँट दे। स्पष्ट कह दे—'चल हट, झूठी कहीं की ! आज जब सत्य चला गया, तब कहती है—हम उसकी कोई चीज नहीं छीनेंगे और अभी कल ही ब्रह्म से एक साधारण खिलौने के लिए झगड़ पड़ी थी—तब उसे मनाने के लिए उसको डेढ़ रुपये का रबर का घोड़ा खरीदना पड़ा था। इसका परिणाम यह हुआ कि साबुन-तेल खरीदने का ध्यान ही न रहा, जिसके लिए बाजार गया था। फिर जब ध्यान आया तब पैसे चुक गये थे !···कपड़े कितने गन्दे हो रहे हैं ! करुणा की धोती तो इतनी चीकट हो गई है कि देखी नहीं जाती। ब्रह्म के लिए बिस्किट का डब्बा भी हम नहीं ले पाये।'

झट वेद उठता और कह देता है—"चलो उठो, सो जाओ सब लोग। साढ़े नौ का समय हो गया।"

'रात हो गई है, बच्चे सो रहे हैं। करुणा भी लेट रही है। अब रोशनी बन्द कर देनी चाहिये। नींद में बाधा उपस्थित करेगी।'—वेद उठता है, बटन दबाने के लिए आगे बढ़ता है। इतने में उसकी दृष्टि करुणा की सघन केश-राशि के भीतर झलकते हुए उसके गम्भीर मुख पर जा पड़ती है। फिर प्रतीत होता है, पलकों की उपत्यका में कोई वस्तु चमक रही है। तब वह और निकट जाता है।···दायाँ हाथ ब्रह्म की पीठ पर रक्खा है। चूड़ियाँ कलाई के आगे बढ़कर हाथ के ऊपर तक आ गयी है।—'ओ: पन्द्रह दिनों में ही करुणा की यह दशा है!'

तब वह उसे कुछ और निकट से देखने के लिए झुकता है। 'अच्छा तो वह चमकनेवाली वस्तु और कुछ नहीं, एक मोती है।

'मोती नहीं अश्रु है।

'अश्रु का जल खारी होता है। सागर का जल भी खारी होता है। पता नहीं इस करुणा में ऐसे कितने अश्रु लीन है! मैंने तो अभी उसका एक कण ही देख पाया हैं।'

अस्थिर हो उठता है वेद।

घूमकर कक्ष से बाहर निकलता हुआ मन-ही-मन कह उठता है—

'अहो करुणासागर, तुम्हारी यह कैसी लीला है!'

आज वह जब साबुन-तेल बाजार से नहीं ले आया, तो करुणा ने उससे पूछा—"तुमने ब्रह्म को खिलौने के लिए क्यों मचल जाने दिया? और अगर वह मचला ही था, तो तुमने उसकी परवा क्यों

ती ? मैं पूछती हूँ, गृहस्थी के लिए साबुन-तेल अधिक आवश्यक ,, या बच्चों के लिए ये खिलौने ?''

वेद के मुँह से निकल गया—"खिलौने।" फिर वह मुसकराने लगा।

करुणा बोली—"जब तुमको गार्हस्थ्यधर्म का कुछ भी ध्यान नहीं, विचार नहीं, तब तुमने यह गृहस्थी बसाई ही क्यों ? ब्याह ही क्यों किया तुमने ?"

हँसते-हँसते वेद ने उत्तर दिया—"सत्य, शक्ति और ब्रह्म को प्राप्त करने के लिये।"

तब करुणा भी हँसने लगी। बोली—"लो, भूल गये तुम। पड़ गये न चक्कर में ! मैंने तुम्हारी भूल पकड़ ली।"

वेद तुरन्त आश्चर्य, व्यंग्य और हास-मिश्रित मुद्रा में बोला—"अच्छा तो तुम चाहती हो, मैं तुम्हारा महत्त्व तुम्हारे ही मुँह पर स्वीकार करूँ !"

करुणा ने कहा—"क्यों, अगर यह सत्य है, तो स्वीकार करने में तुम्हें आपत्ति क्यों है ?"

"क्योंकि तुम मेरी आत्मा हो करुणा।" वेद ने कह दिया—"मैं तुमको अपने आप से पृथक् देख ही नहीं पाता।"

करुणा पहले चुप रह गयी। फिर उसके मन में आया—कहना चाहती, तो क्या कह नहीं सकती थी—'अब तुम कविता करने लगे। जब कि जीवन कविता नहीं है।'

वेद फिर बोल उठा—"जरा तुम्हीं सोचो, स्वयं ब्रह्म जब खिलौने को मचल उठे, तब मैं उसकी उपेक्षा करूँ, मैं ? मेरे लिए ऐसा कैसे सम्भव है ?"

अब करुणा से बिना बोले न रहा गया—"निरी कविता है।

अन्यथा मेरे सत्य ने इन छोटी-छोटी वस्तुओं के लिए कभी जिद नहीं की। कभी मुहँ खोलकर यह उसने नहीं कहा कि मुझे अमुक वस्तु चाहिये। उसने कभी कोई ऐसी माँग नहीं पेश की जिससे मेरी व्यवस्था में क्षण भर को भी बाधा उत्पन्न होती।"

इतना कहते-कहते उसके नयनों मे मोती झलकने लगे।

वेद के मुँह से निकल गया—"अरे! तुम रोती हो करुणा! छि:! ब्रह्म देखेगा, तो क्या कहेगा!"

करुणा और जोर से रो पड़ी। बोली—"ब्रह्म क्या देखता नहीं है! ब्रह्म से मैं कभी कुछ छिपा भी सकती हूँ!"

"तब मुझे ब्रह्म से कहना पड़ेगा कि तुम अपनी माँ को रोने मत दिया करो।"—एक झटके के साथ कहकर वेद उस कक्ष से बाहर वहाँ जा पहुँचा, जहाँ शक्ति और ब्रह्म आँखमिचौनी खेल रहे थे!

तीन

समय के चरण कुछ और आगे बढ़ आये हैं। सत्य उच्च माध्यमिक श्रेणी से आगे बढ़कर महाविद्यालय में आ गया है।

जैसे सत्य को पाकर ज्ञान फूला नहीं समाता, वैसे ही ज्ञान के अवलम्बन मे सत्य अपने आपको प्रकाशमान देखता है। ज्ञान समझता है, सत्य के बिना मेरी गति नहीं; और सत्य की मान्यता है कि ज्ञान से परे वह अन्धकार का वासी है। उसके लिए ज्ञान

वह प्रकाश है, जिसकी सहायता के बिना वह प्रायः प्रच्छन्न रहता है।

पर ज्ञान और सत्य के बीच एक रेखा भी है। वह रेखा सरल नहीं, वक्र है। उसका नाम है 'किन्तु'। ज्ञान का कोई विधान जब कर्म का रूप पाता है, तभी सत्य उसमें किन्तु बनकर उपस्थित हो जाता है। पहले ज्ञान को इसका अनुभव न था, अनुभव अब हुआ है उसे। ज्ञान समझता है कि सत्य को अर्थ का मोह नहीं है; और सत्य समझता है कि वह स्वयं अर्थ है। ज्ञान के लिए अर्थ साधना है, इष्ट है, उद्देश्य है। यहाँ तक कि यही उसका आदर्श और धर्म-कर्म भी है। किन्तु सत्य के लिए अर्थ एक साधन है, उपकरण है। ज्ञान उसे शुभ्रज्योत्स्ना के रूप में देखता है, तो सत्य उसे स्वेद-बिन्दु का मैल, कपट का घट और प्रपंच की देन मानता है।

ज्ञान की एक ग्लास-फैक्टरी है। सत्य पर उसकी देख-रेख का उत्तरदायित्व आ गया है। जहाँ तक माल के उत्पादन का सम्बन्ध है, सत्य की व्यवस्था से ज्ञान को पूर्ण सन्तोष है। किन्तु जब कर्मचारियों की निजी असुविधाओं, कठिनाइयों, शिकायतों और माँगों का प्रश्न उठता है, तब सत्य जिस ओर जा खड़ा होता है, ज्ञान उसे अपने लिए नाशमूलक समझता है।

कुछ ऐसी बात हुई कि उस बार होली जलने का मूहूर्त निकला चार बजकर बीस मिनट पर प्रातः काल और दिन शनिवार। रविवार को हो गयी प्रतिपदा, चैत्र कृष्णा और वह

चली आयी फाग, होली और रंग-भंग की क्रीड़ाओं को लिये सोमव र तक।

कर्मचारियों ने कहा—"हमें सोमवार की भी छुट्टी चाहिये।"

वैसे होली की छुट्टियाँ फैक्टरी में दो ही दिन की होती थीं। सत्य ने ज्ञान से पूछे बिना सोमवार के लिए भी छुट्टी स्वीकार कर ली।

ज्ञान ने सायंकाल सत्य को बैठक में बुलाकर पूछा—"सोमवार को भी छुट्टी रखने से फैक्टरी भर में कोलाहल मच गया होगा। सभी कर्मचारी उछल पड़े होंगे ! क्यों ?"

सत्य ने तब तक समझ नहीं पाया कि चाचाजी ऐसा क्यों पूछ रहे हैं। इसका एक कारण यह भी था कि बात करते क्षण वह बहुधा ज्ञान के मुंह की ओर ध्यान से देखता न था। इसके विपरीत जहाँ तक सम्भव होता, उत्तर देते क्षण वह उनके आगे अपना सिर नीचा ही किये रहता। अतएव, उसने सहज भाव से उत्तर दिया—"उचित माँग के पूर्ण हो जाने पर सभी को प्रसन्नता होती है।"

इसके आगे वह यह भी कहने जा रहा था कि 'फिर यह कोई ऐसी माँग तो थी नहीं, जिसके पूरा होने का उन्हें भरोसा न हो।' पर तब तक ज्ञान स्वयं बोल उठा—"जब छुट्टी स्वीकार कर लेने का आश्वासन उन्हें उनके नये मालिक ने पहले ही से दे रखा हो..."

आधार उनकी आपत्ति से कितने दूर हैं। वह अपनी आन्तरिक भाव-धारा को छिपा न सका। बोला—"भरोसा न वे किसी नये-पुराने मैनेजर का करते हैं, न मालिक का। क्योंकि उन्हें धीरे-धीरे मनुष्य की कृपा पर जीने की अपेक्षा अपनी मेहनत की कमाई और ईमानदारी पर जीने का अधिक अभ्यास हो गया है!"

सत्य ने आज तक कभी ऐसा जवाब नहीं दिया, जो ज्ञान को बुरा लगने से पहले स्वय उसे भी खटक जाय। किन्तु अन्तर की बात जब निकलते-निकलते निकल ही गयी, तो वह अपने आप ही कुछ सहम-सा गया। फिर कथन के प्रभाव को जान-बूझकर मन्द करता हुआ बोल उठा—"लेकिन भविष्य के लिए जरा भी चिन्ता करने की जरूरत नही चाचाजी! आप से सलाह लिये बिना मैं ऐसा कोई काम न करूँगा, जिससे आपका जी दुखे।"

ज्ञान का सारा क्रोध सत्य के इस एक ही वाक्य ने गलाकर जैसे पानी-पानी कर दिया। तब वह थोड़ा गम्भीर होकर कहने लगा—"नही नही, ऐसी क्या बात है, जो मेरा जी दुखेगा। मुझे करना क्या है! जो कुछ है, अब तुम्हारा ही तो है। तुम्हीं को सब देखना-सुनना है। जरा-सा इसी बात का ध्यान रखने की जरूरत है कि जो भी नीति एक बार तै कर ली जाय, उसे निभाया भी जाय और तै करने में इस बात को भी अच्छी तरह सोच लिया जाय कि वह आगे भी बराबर निभ सकेगी या नही।"

सत्य कहना चाहता था कि सोचने के लिए यह बड़ी अच्छी बात है कि हम सदा एक रस बने रहें, अपने सिद्धान्तों, व्यवहारो और विधानों मे कभी टस-से-मस न हों, किन्तु व्यावहारिक

दृष्टि से जीवन के लिए यह कोई बहुत कल्याणकारी, शिव और उन्नतिशील मार्ग नहीं है।

तब तक ज्ञान बोल उठा—"आज तुम्हारे लिए एक नयी गाड़ी देख आया हूँ। देखने को झटपट तैयार हो जाओ।"

सत्य कहने लगा—"लेकिन मेरे लिए अलग से गाड़ी लेने की ऐसी जरूरत ही क्या है ? आप के साथ जैसे अब तक जाता-आता रहा हूँ, वैसे ही आगे भी···।"

झट बात काटता हुआ ज्ञान बोला—

"आगे तुम मेरे साथ नहीं जा सकोगे। तुम्हे मेरे व्यक्तित्व के साथ अपने आपको समाप्त करके नहीं रखना है। समझे कि नहीं ? इसके सिवा स्वयं मुझे भी तो अपना समाज चाहिये। बच्चों के साथ हमेशा तो रहा नही जा सकता।"

सुनकर सत्य विचार में पड़ गया। कमरे से बाहर आता-आता घूम-फिरकर बार-बार मन-ही-मन मे यही सोचने लगा—"जरूर कोई खास बात है।"

रात में ज्ञान पलँग पर लेटा हुआ माया से घुल घुल कर बातें कर रहा था :

"तिवारी जी के घर गयी थी आज ?"

"गयी थी। कहते थे—मैं तैयार हूँ।"

ज्ञान पहले तो चुप रह गया, फिर करवट बदलता हुआ बोला—

"उनके तैयार होने से क्या होता है !"

"क्यों ? तुम तो उस दिन कह रहे थे कि सत्य मेरा कहना कभी टाल नहीं सकता।"

"कहने को तो मैं आज भी तैयार हूँ। लेकिन मैं ऐसी बात कहूँ ही क्यों, जिससे उस पर अनुचित रूप से दबाव पड़ने की सम्भावना हो। हाँ, तुम चाहो तो सब कुछ हो सकता है।"

उत्तर मे "जी" शब्द पर थोड़ा जोर देकर व्यंग्य से सिर हिलाती हुई माया बोली—"अब मेरा यही एक काम रह गया है कि मैं सत्य के लिए बहू खोजकर उसका ब्याह तै करवाती फिरूँ!

"क्यों, पुत्र के लिए माता-पिता क्या नहीं करते ?"

"न वह वैसा पुत्र है, न मैं उसकी वैसी माँ हूँ। मन समझाने की बात दूसरी है।"

"यह क्या कहती हो तुम!" लेटे-लेटे बातें करते हुए ज्ञान उठकर बैठ गया। बोला—"मैंने तुम्हारे ही मना करने से उसको गोद लेने का उत्सव धूमधाम के साथ नहीं मनाया। लेकिन यह मत समझ लेना कि मैं उसका भविष्य सदा इसी तरह संकट में पड़ा रहने दूँगा। आज फिर मैंने वकील को मसविदा बनाने के लिए सहेज दिया है। इस हफ्ते के अन्दर-अन्दर मैं लिखा-पढ़ी कर दूँगा।"

"तुम जो चाहो सो करो। लेकिन मुझसे कुछ मत पूछो। मैं किसी के भाग्य या भविष्य को चौपट कर देने के लिए तो तुमसे कह नहीं रही हूँ। मैं यह भी नहीं कह रही हूँ कि तुम सत्य को धोखा दो। मैं तो वास्तव मे कुछ कह ही नही रही हूँ। बेकार तुम मुझे तंग करते हो। अगर तुम्हें बात करना नहीं आता, तो चुपचाप सो क्यों नहीं जाते!—अच्छा इधर आओ, जरा देखूँ

तुम्हारी नब्ज़। रक्तचाप तो ज्यादा नहीं है तुम्हें? अच्छा ठहरो, मैं खुद आकर देखती हूँ।"

हा-हा-हा-हा!

ज्ञान ठट्ठा मारकर हँस पड़ा—"तुम मुझे पागल कर डालोगी!"

तब स्वयं माया यन्त्र उठा ले आयी। बाँह में यन्त्र की पट्टी बाँधती हुई बोली—"सीधे बैठे रहो चुपचाप।"

"नहीं तो मार बैठूंगी—इतना ही और कहना क्यों बाकी रख छोड़ा!" कहते-कहते ज्ञान फिर हँसने लगा।

"हँसो मत, मैं कहती हूँ हँसो मत!" कहती हुई माया यन्त्र का ट्यूब धीरे-धीरे फुलाने लगी।

ज्ञान बोल उठा—"बस-बस।"

"अभी बस कैसे?"—उत्तर के साथ माया ने थोड़ी वायु और बढ़ जाने दी। फिर कलाई में बँधी घड़ी और रक्तचाप का परिणाम देखती-देखती प्रसन्नता से पुलकित होकर बोल उठी—"ठीक! ठीक! बिल्कुल ठीक!! बस, अब चुपचाप सो जाओ। समझे कि नहीं?"

कुछ सोचती हुई माया यन्त्र को ड्राअर में रखने चल दी।

कई दिन से ज्ञान बहुत व्यस्त रहा है। सत्य ने यकायक उसकी व्यवस्था में अनेक परिवर्तन उपस्थित कर दिये है। ज्ञान मन-ही-मन अनुभव करता है कि सत्य वय में छोटा होकर भी अध्ययन-शीलता में मुझसे कहीं अधिक अग्रसर है। पदार्थों के रूप, व्यक्तियों के व्यवहार, उनके पारस्परिक सम्बन्ध, उनमें स्वार्थों का संघर्ष, उनकी आर्थिक विषमता, उनके आपसी छल, प्रपंच और दाँव-पेंच—जैसे सभी बातों पर उसकी एक व्यापक दृष्टि है।

भले ही वह कभी कुछ न कहे; पर उसकी तीव्र, सूक्ष्म और वेधक दृष्टि से कुछ भी परे नहीं रह सकता। इसीलिए ज्ञान को अपनी सीमाओं के गोपन की चिन्ता हो गयी है।

इसके कुछ कारण हैं। ये तो पहिले भी, पर इधर पता नहीं क्यों, वे अधिक स्पष्ट हो गये हैं।

शाम होने आयी। ज्ञान को मकान पर आये देर हो गयी थी। सत्य अपने कमरे में बैठा विनय से बातें कर रहा था। इसी समय उसे मालूम हुआ, कोई बाहर से आवाज दे रहा है--"सेठ जी! —ठक-ठक-ठक "सेठ जी!"

इतने में फुल्लो चाय ले आयी।

सत्य ने उससे कह दिया—"देख तो सही, कोई चाचाजी से मिलने आया है।"

फुल्लो बोली—"अभी देखती हूँ छोटे सरकार!"

सत्य को अपने लिए 'सरकार' शब्द के प्रयोग पर आपत्ति थी और वह फुल्लो को इसकी सूचना भी दे चुका था। लेकिन फुल्लो कुछ तो अभ्यास के कारण यह शब्द कह जाती थी, कुछ वह स्वभाव से भी शैतान थी।

सत्य इतना कहकर बातों में लग गया। कुछ उसका मन विनय के आतिथ्य का ध्यान रखने में भी लगा था। फुल्लो के उत्तर पर एक बार उसने आपत्ति की दृष्टि से कुछ इस तरह देखा जरूर कि वह आप-ही-आप सम्हल गयी। उसे मालूम हो गया कि उससे गलती हो गयी है। झट उसने जीभ निकाल कर दाँतों से दबा ली और फिर ढिठाई से कह दिया—"छोटी-मोटी गलतियों के लिए मुझे माफ ही कर दिया करें भाई साहब!"

इतना ही होता, तब भी कोई बात न थी। पर फुल्लो इसके

बाद अपने आयत नैयनों को इधर से उधर घुमाती हुई मुस्कराने भी लगी।

तब सत्य ने सिर को ऊँचा करके गुरु गम्भीर वाणी में कह दिया—

"क्या कहा !"

फुल्लो जैसे कांप गयी। वह सिमटी-सिमटी-सी चुपचाप चली गई। उसे इस घर की सेवा करते हुए आठ वर्ष हो गये। कभी किसी के शासन में उसे इतना डर नहीं लगा, जितना कल के आये इस सत्य से।

विनय एक साधारण घर का लड़का है। सत्य की गम्भीर प्रकृति और उसके आकर्षक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसका मित्र बन गया है।

सत्य चाय का अभ्यासी नहीं है। केवल मित्र का स्वागत करने के लिए साथ में वह भी ग्रहण कर लेता है।

विनय चाय बनाते हुए बोला—"अच्छा सत्य, एक बात तो बतलाओ, भाग्य पर विश्वास तुम्हें पहले से ही था, या अब हुआ है ?"

सत्य मुस्कराने लगा।

विनय ने जैसे उत्तर पा लिया हो। पर उसी क्षण वह कुछ आतंकित भी हो उठा। छन्नी में चीनी के साथ चाय छानी जा चुकी थी। अन्त में दूध छोड़ता हुआ विनय कहने लगा—"किस भगवान ने तुम्हें गढ़ा है, समझ में नहीं आता। तुम्हारी तीव्र गुरु-गम्भीर दृष्टि ही नहीं, एक सरल मुसकान भी कितनी कुटिल, कैसी भयानक होती है, मैं तो देखें-देखकर दंग रह जाता हूँ।"

सत्य सोचता रह जाता है कि आखिर किस प्रकार वह अपनी

रक्षा करे। उसके मन मे जैसे ववण्डर उठते है। यदि वह उन्हें प्रकट कर देता है, तो कहीं का नही रहता। मनुष्य सारे जगत् को उपेक्षा की दृष्टि से देखकर तो निभ नही सकता। यदि यह चुप भी रहना चाहता है तो उसकी अपनी ही सीमाएँ उसे नोचना शुरू कर देती हैं!

अत. उसको अन्त मे वोलना पड़ा—"मुझे तुमसे सिर्फ दो वातें कहनी है। एक तो यह कि तुम कभी मुँह पर मेरी प्रशसा मत किया करो। दूसरी, यह कि जिस बात के सम्बन्ध में मैं कुछ न कहने की परिस्थिति मे रहूँ, उसे छेड़ा मत करो वार-वार।...आज की वात है। तुमने एक ऐसा प्रश्न मुझसे कर दिया, जिस पर वहस करना हम दोनो के लिए अभी छोटे मुँह बड़ी वात है। जानते हो क्यो? क्योंकि जो कुछ हम पढा करते हैं वह, जो कुछ सुना करते हैं वह—यहाँ तक कि जो आँखों से देख भी लिया करते हैं वह भी सवका सव, सुदूर भविष्य की आलोचक दृष्टि में सत्य ही सिद्ध होगा, इसमें सन्देह है।"

सुनकर विनय सन्न रह गया। उसे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ जैसे सत्य के यथार्थ परिचय के सम्बन्ध में अव तक उसके नेत्र वन्द ही रहे है। आज अभी उसने उसका थोड़ा-सा परिचय पाया है। वहुत कुछ अव भी समझने को शेप रह गया है। पर उस शेप को भी समझ लेने का पूर्ण अवसर वह कब पावेगा, यह अनिश्चित है।

दोनों चाय पीने लगे।

विनय को संगीत से वड़ा मोह है और सत्य के कमरे में रेडियो लगा है। विनय के लिए यह भी एक वडा आकर्षण है। जब परिस्थिति इतनी गम्भीर जान पड़ी कि विनय को वात

उठाना भी अब दुष्कर-सा प्रतीत होने लगा, तब उसने संगीत सुनने के लिए रेडियो की खूँटी घुमा दी।

विनय एक साथ चाय का एक घूंट भी नहीं पीता। वह उसे सिप् करता रहता है। इसमें कभी-कभी इतना अधिक समय लग जाता है कि दूसरे प्याले का अवसर आने से पहले ही चाय ठण्डी पड़ जाती है।

अभी विनय ने लगभग एक चौथाई ही चाय पी पायी थी और संगीत की मधुर ध्वनियाँ निस्सृत होनी प्रारम्भ ही हुई थीं कि सत्य उठकर खड़ा हो गया।

गीत के प्रारम्भिक शब्द थे—

"ये मत पूछ जालिम कि क्या हो गया है।

तुझे देखने का नशा हो गया है—नशा हो गया है।"

गीत की यह प्रारम्भिक शब्दावली अभी समाप्त भी न हो पायी थी कि सत्य एक झटके के साथ कमरे से बाहर हो गया। हाँ, द्वार पर पड़ी हुई चिक के पास पहुँचते-पहुंचते वह इतना जरूर कहता गया कि "मैं अभी आया।"

विनय कुछ भी नहीं समझ सका कि बात क्या है—क्या सत्य को संगीत से विरक्ति है? अथवा संगीत के भीतर से झलकने-वाली इस नग्न संस्कृति से वह घृणा करता है! पर यह भी तो हो सकता है कि उसे कोई ऐसी बात स्मरण हो आयी हो, जो उसकी यहाँ की उपस्थिति से अधिक आवश्यक हो।

सत्य जो भीतर गया, तो क्या देखता है कि फुल्लो दासी उसकी चाची से, मटक-मटककर बात कर रही है। वह कह रही

है—"नहीं-नहीं सरकार मैं अपने सिर की कसम खा कर कहती हूँ कि इसमे रत्तीभर भी झूठ हो तो⋯"

वह अभी इतना ही कह पायी थी कि सत्य की आहट पाती-पाती तत्काल जीभ निकाल उसे दाँतों से काटती हुई एकदम से चुप रह गयी। और चाची, जो सिर ही नहीं, उसके आगे भी कुछ खोले बैठी थी, यकायक घबड़ाकर साड़ी खीचती हुई अपने आपको सम्हालने लगी।

तब सत्य वहाँ यकायक पहुँचा ही क्यों, इसके लिए केवल इतना कहकर कि चाचाजी नहीं देख पड़ते, जो सदर-द्वार के बाहर पहुँचा, तो क्या देखता है कि घण्टे भर पूर्व जो व्यक्ति चाचाजी से मिलने के लिए आया हुआ था, वह अब तक बैठा हुआ है!

सत्य ने पूछा—"आपको चाचाजी से किसलिए मिलना है?"

"मिलना क्या है, कुछ पैसे लेने है बाबू!"

वह आदमी अत्यन्त व्यथापूर्वक बोला—"बात यह है कि मेरा छोटा भाई घनश्याम आज आठ दिन से बीमार है। उसको टाइफायड हो गया है। वह आपकी फैक्टरी में काम करता था। कल मैंने एक पड़ोसी को भी इसके लिए चिट्ठी देकर भेजा था, क्योंकि मुझे अपनी नौकरी से छुट्टी नही थी। पर मैनेजर ने यह कहकर उसे लौटा दिया कि इस बात का क्या सबूत है कि यह पत्र घनश्याम के भाई का लिखा हुआ है। फिर यह भी तो हो सकता है कि घनश्याम अपने भाई से अलग रहता हो। इस तरह पैसा नहीं मिला करता। पैसे के लिए घनश्याम को खुद आना पड़ेगा। अब आप ही सोचें सरकार कि⋯।

तुरन्त सत्य ने रुखाई के साथ टोक दिया—"सरकार मैं नहीं हूँ। समझे? हाँ, अब कहो, जो कहना चाहते हो।"

तब उसने सत्य को सिर से पैर तक ध्यान से देखते हुए कहा—"सरकार नाराज न हों तो मैं अपनी बात पूरी कर लूं।"

एक बार सत्य के मन मे आया कि 'सरकार' शब्द का प्रयोग करने के लिए वह उसे झिड़क दे। किन्तु यह सोचकर वह रुक गया कि हो-न-हो, सम्पन्न व्यक्ति को सरकार कहने की इसे आदत पड़ गयी है। फिर उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो कोई उसके कानों में मुंह डालकर पूछ रहा है कि क्या यह दरिद्रता का ही प्रभाव नही कि अपने अधिकार का दावा पेश करते क्षण भी यह आदमी अपने आप को हीनकोटि का व्यक्ति मान रहा है ?

तत्काल उसके मुंह से निकल गया—

"कर लो पूरी बात। इसमे राजी-नाराजी का सवाल ही नही उठता।"

तब वह बोला—"बहुत बड़ी उमर हो आपकी। बस, मुझे कहना यही है कि भगवान न करे कि मेरे घनश्याम का बाल भी बाँका हो। लेकिन कल को अगर वह खतम हो जाय, तो उसकी कमाई के पैसे क्या उसकी रूह को दिये जायंगे!"

सत्य तब ऐसी परिस्थिति मे फंस गया कि उसे बोलना ही पड़ा—"चाचाजी जब निकलें, तब उनसे यही बात कह देना।" और वह अत्यन्त खिन्न मन लेकर पुनः अपने कमरे की ओर लौट पड़ा।

लौट तो पड़ा, पर आज प्रथम बार उसने अनुभव किया कि धीरे-धीरे वह अपना समस्त-बल, तेज और गौरव खो रहा है! जो कुछ उसके मन में आता है, उसे कह नही पाता। और कह भी पाये, तो उससे होता क्या है! —यदि वह उसे कार्य का रूप नहीं दे पाता।

तब वह पुनः उन्ही पैरो लौट पड़ा ।

परन्तु नहीं—उसके मन मे आया—यह भी वह नही करेगा । फिर वह रुका, लौटा और अपने कक्ष में चला आया ।

विनय चाय पी चुका था । फुल्लो चाय की तश्तरी उठाकर ले ही जा रही थी कि सत्य ने सौ रुपये का एक नोट, जो उसे उसके चाचा ने फुटकर खर्चे के लिए दिया था, निकालकर फुल्लो को दे दिया और कहा—"इसे भुना ले आ ।"

"सौ रुपये का नोट !" फुल्लो कुछ आश्चर्य और आशका के साथ बोली—"भुनाने की ऐसी क्या जरूरत पड गयी भाई साहब को ? कोई चीज मँगानी हो, तो मैं माँजी से पैसे लेकर मंगवा दूँ।"

सत्य ने चाहा, वह साफ-साफ कह दे—'तुझे आम खाने से मतलब है, या पेड गिनने से ?' पर उसने ऐसा कुछ कहना इस समय उचित नही समझा । केवल इतना कह दिया—"एक आदमी को देने है मुझे, इसी समय । समझी ?"

"समझ गयी भाई साहब" फुल्लो बोली और आँखो की गति मे, कनखियो की भाषा से, उसने यह भी व्यक्त कर दिया कि मैं वास्तव मे सब कुछ समझ गयी हूँ ।

फिर एक क्षण का भी विलम्ब किये विना वह चाय की तश्तरी को सम्हालती हुई चली गयी ।

विनय उठ खड़ा हुआ । वोला—"मैं तो अब चला । शाम को तुम मिल रहे हो न ?"

"कहाँ ?" सत्य ने उत्तर दिया—"आज तो हम लोगों को वाद-विवाद-प्रतियोगिता में जाना है ।"

"हाँ, जाना तो है यार ! मगर···" विनय कुछ कहने जा रहा

था कि बीच में रुक गया। बोला—"तुम्हीं चले जाना। मुझे जरा काम है।"

"पर, यह काम उससे ज्यादा जरूरी तुम्हें नहीं जान पड़ता?" सत्य ने सहज-भाव से उत्तर दिया।

विनय उठकर खड़ा हो गया था। अब वह पुनः उसी सोफे पर बैठ गया, जिस पर अभी बैठा हुआ था। फिर कुछ मुसकराया। पर यह मुसकराहट कुछ उस मदारी की-सी थी जो परम विश्वास और निश्चिन्तता के साथ साँप का फन पकड़ने जा रहा हो!

"जान पड़ता है," कहते-कहते विनय कुछ गम्भीर हो गया और सत्य के अत्यन्त निकट आकर बोल उठा—"हाँ-हाँ, स्पष्ट जान पड़ता है कि एक धनी-मानी परिवार के साथ सम्बन्ध जोड़ना आज हमारे लिए कितना भयावह और कैसा अपमान-जनक हो गया है!"

"मतलब क्या है तुम्हारा? साफ-साफ कहो न?"

"मतलब यह है कि मैं सायंकाल के कार्यक्रम में शामिल सिर्फ इसलिए नहीं हो सकूँगा कि मेरे पास तुम्हारे साथ चल सकने योग्य कपड़े नहीं हैं। और सच पूछो तो कल विश्वविद्यालय जाने लायक भी नहीं हैं!"

इतना कहकर वह एक दम से घूम गया और पृष्ठभाग के धब्बों की ओर संकेत करता हुआ कहने लगा—"यह देखो, कल बिना देखे एक दूकान पर पड़ी हुई कुरसी पर बैठ जाने का नतीजा।" कथन के साथ फिर पूर्ववत् बैठता हुआ बोला—"आज दोपहर में इसे साफ करना है। लेकिन चार बजे तक धोना, सुखाना और फिर इस्त्री कर-कराके तैयार हो सकना—तुम समझते हो, मजाक है?"

सत्य सुनकर चुप रह गया। कुछ बोला नहीं।

विनय चलने लगा, तो सत्य ने एक निःश्वास खींचकर हाथ मिलाने के लिए आगे बढ़ा दिया और कहा—"अच्छा!"

फिर वह उसे सम्मान विदा करने के लिए चुपचाप द्वार तक चला भी गया।

विनय जब द्वार-मण्डप में चलने लगा, तो सत्य ने पूछा—"रहोगे तो घर पर ही न? यह भी तो हो सकता है कि मैं भी न जा सकूं।"

विनय सीढ़ी उतर चुका था, अब पुनः ऊपर चढ़ आया और सत्य का हाथ अपने हाथ में लेकर बोला—"ऐसा न करना। मैं कोशिश करूँगा कि तुम्हें तैयार मिलूं।"

सत्य ने उसे पास खींच लिया और उसके कान में कह दिया—"मेरे कपड़े तुम्हारे बिल्कुल फिट होंगे। मैं अपने बैग में तुम्हारे लिए एक सूट लेता आऊँगा।"

उत्तर में विनय सिर हिलाता हुआ बोला—"नहीं-नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। कभी नहीं हो सकता। बस यही बात तै रही कि मैं भरसक तैयार मिलूंगा।" और चल दिया।

विनय जब मकान से बाहर हो गया, तो सत्य ने अन्दर की ओर घूमते हुए रूमाल आँखों से लगा लिया।

चार

विवाद का विषय था—तलाक-प्रथा हमारे सामाजिक जीवन के विकास के लिए परम आवश्यक है।

पक्ष में बोलनेवाले तीन व्यक्ति थे—सत्यप्रकाश, केदारनाथ और प्रेरणा।

विपक्ष में बोलनेवाले भी तीन व्यक्ति थे—विनय, प्रेम और चेतना।

जब दोनों पक्षों के भाषण हो चुके, तो सभापति, जो हिन्दी-विभाग के एक यशस्वी अध्यापक भी थे, बोले—"अब मैं चाहता हूँ कि इस विषय पर दोनों पक्षों से प्रश्नोत्तर भी हो जायँ। इसके लिए मैं पाँच मिनट का समय देता हूँ। जिन छात्रों को प्रश्न करने हों, वे इस अवधि के भीतर अपने प्रश्न भेज दें। इसके बाद आनेवाले प्रश्नों पर विचार न किया जायगा।"

जब प्रश्नावली आ गयी, तब सभापति ने कहा—"अब इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हमें दोनों पक्षों से केवल एक-एक व्यक्ति चाहिये। आप लोग आपस में परामर्श करके दोनों नाम लिखा दीजिये।"

तब जो दो नाम दिखाये गये, वे थे—सत्य और चेतना।

विनय ने इस निर्वाचन पर ताली पीट दी, जिसका सभी छात्रों ने अत्यन्त हर्ष के साथ अनुसरण किया। इस हर्ष-ध्वनि के समय चेतना इतनी संकुचित हो गई कि तत्काल उठकर उसे दूसरे कमरे में चला आना पड़ा।

अब प्रश्नावली प्रारम्भ हुई। सब से पहले सभापति ने जो प्रश्न पढ़कर सुनाया, वह था—वैवाहिक जीवन में जब ऐसी

परिस्थिति उत्पन्न हो जाय कि पति-पत्नी अपने दाम्पत्य सम्बन्धों का निर्वाह किसी प्रकार न कर सकें, तब सर्वथा स्वतन्त्र हो जाने के सिवा उनके समक्ष और कौन-सा मार्ग रह जाता है ?"

पूर्व निश्चय के अनुसार चेतना को मंच पर आना है। वह अपनी कुरसी से उठकर आ रही है।

धीर-गम्भीर बड़े-बड़े नयन हैं, गुलाब के नवल दलों को लजाने वाले अधर। तप्त कुन्दन जैसा ज्वलन्त वर्ण है, कमल-नाल-सी पतली-पतली लचीली अँगुलियाँ। आपाद-मस्तक अनु-चर्चित श्वेत परिधान की धार पर यह जो कोट धारण किये हुए है, वह भी गो-घृत वर्ण का है।

'एक-एक पग धीरे-धीरे ऐसे उठ रहा है, जैसे मृग-चरण हों। दुग्ध-धवल साड़ी की रेशमी किनारी यह झलकी। साड़ी की तहों की स्पर्श और कर्षण की, सर-मर-मर-मर यह स्वर लहरियाँ अपने इस रिक्त-मूक हृदय पर इसी समय लिख लूँ, या नियत के दारुण नियन्त्रण पर छोड़ दूँ ?'

सत्य के मन में आया ही था कि इतने में चेतना मंच पर आ पहुँची और ऊर्ध्वमुखी होकर सभापति को सादर अभिवादन कर बोली—

"सम्माननीय सभापति महोदय और उपस्थित सज्जनो, प्रश्न की शब्दावली का प्रारम्भिक अंश है—वैवाहिक जीवन में जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाय···। यहाँ विचारणीय यह है कि यह वैवाहिक जीवन क्या है और उन परिस्थितियों की जिम्मे-दारी किस पर है ?

"विवाह के पवित्र बन्धन में बँधते क्षण परस्पर जो प्रतिज्ञाएँ की जाती हैं, वे जिस स्नेह-वर्तिका की लौ, जिस पावन समर्पण

की अन्तर्वाणी, जिस संयम-नियम की वैधानिक शपथ और सम्पूर्ण जीवन के अणु-अणु का अविकल अर्घ्यदान हुआ करती हैं, मैं जानना चाहती हूँ, वे प्रतिहिंसा-पूर्ण अहंवादी परिस्थितियों के जन्म के क्षण कहाँ सो रहती हैं ? मानवी दुर्बलता के नाम पर जिस छल-प्रपंच, लुका-छिपी, नैतिक पतन—और मैं साफ-साफ कहना चाहती हूँ कि—जिस विश्वासघात का आप लोग पोषण करना चाहते हैं, वह कहाँ तक मानवी है ? आंसुओं में डूबे, भूख-प्यास, निद्रा और निःश्वासों के अन्तराल में पले, कोमल-कोमल भोले कलेजों को, मिथ्या कथनों, भ्रमात्मक वचनों, मायावी प्रलोभनों, कभी न पूर्ण होनेवाले आश्वासनों और वासनात्मक नखों से नोंच-नोंचकर खाने की क्रिया को—मैं पूछती हूँ आप किस मुंह से मानवी कहना चाहते हैं ?"

वाद-विवाद-सभा में चारों ओर से एक व्यापक निर्घोष गूँज उठता है—हियर ! हियर !! और विस्मित सत्य सोचने लगता है कि यह तो मेरी विचारधारा है, यही तो मैं सोचता हूँ ।

चेतना का वह विचारोत्तेजक गगन-भेदी कण्ठ-स्वर अब धीरे-धीरे शान्त, मन्द और मधुर होने लगता है । उसके भृकुटि-विन्यास, अधर-दोलन और कथनाकर्षण में अब एक मार्दव, मृगलोचनों की अपलक पलकों और नासिका-कील की हीरक झलकों से अब एक मोहक प्रभाव उत्पन्न हो जाता है । वह कहने लगती है —"पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि आज हमारे समक्ष यह कोई समस्या ही नहीं है । मैं तो केवल यही कहना चाहती हूँ कि यदि वास्तव में आप इस समस्या का कोई वास्तविक समाधान चाहते हैं तो पहले मनुष्य को पशु बनने से बचाइये । जब तक आप यह नहीं मान लेते कि मनुष्य का जन्म स्वयं एक

बन्धन है और सामाजिक संगठन का आधुनिक रूप कतिपय नियन्त्रणों और सरक्षणों की ही देन, तब तक आगे बढ़ना प्रगति नहीं, दुर्गति की ओर पदक्षेप करना है। जब तक आप यह नहीं समझ लेते कि वचन, कथन तथा आश्वासन का मोल हमें जीवन के पारस्परिक आदान-प्रदान से निरन्तर चुकाते ही जाना है, तृष्णा और उसकी तृप्ति की कहीं एक सीमा-रेखा हमें स्वीकार ही करनी है; अन्तिम साँस तक एक अटूट विश्वास और धैर्य के साथ जीवन-निर्झर का एक-एक बूंद—काया, वचन और मन का एक-एक कण—उत्सर्ग करते ही जाना है, तब तक न मानवात्मा का पावन उत्कर्ष हमारे लिए सम्भव है, न देह-धारण की वह उद्देश्य-सिद्धि, भारत-वसुन्धरा और यह निखिल विश्व जिसका पल-प्रति-पल आह्वान, निर्देश और संकेत किया करता है!"

एक मिनट तक करतल-ध्वनि होती रही। तदनन्तर चेतना बोली—"रही बात प्रकृति के साधारण धर्म की। सो, जो प्रकृति स्वयमेव अत्यन्त जड़, कुटिल, निर्मम और नग्न है, उसका साधारण धर्म कितना हीन और नारकीय हो सकता है, यह स्पष्ट है। उसी की आड लेकर उत्तरोत्तर उच्छृङ्खल बनते जाना और उत्तर-दायित्व से भागना उस बर्बरता का पोषण करना है, जो आज तक बढते आये सभ्य मानव के लिए ही नहीं, भविष्य की उन सम्भावनाओं और कल्पनाओं के लिए भी सर्वथा ह्रास और नाश-मूलक है, हमारी आज की नयी पौध, महाकवि सूरदास की अमर वाणी में, जिसका युग-युग से निरन्तर गान और ध्यान किया करती है—

"मैया, मैं नहिं माखन खायो।"

बस, इन्हीं नपे-तुले शब्दों में अपना उत्तर समाप्त कर चेतना

जब अपने स्थान पर आने के लिए तत्पर हुई, तब दो मिनट तक अविराम करतल-ध्वनि होती रही । सत्य इस विचार में पड़ गया कि अब मैं कहूँ ! यह चेतना क्या, कैसी, किसके लिए और क्यों बोल रही है ? क्या उसने सत्य को पहचान लिया है ? या वह ठगना चाहती है ?

अब सभापति ने मूलप्रस्ताव पर प्रश्न करने का विषय उपस्थित करते हुए कहा कि यह प्रश्न कुमारी चेतनादेवी स्वयं उपस्थित करेंगी और इसका उत्तर ही आज की विवाद-सभा का अन्तिम भाषण होगा ।

तब चेतना ने वह प्रश्न इस प्रकार उपस्थित किया—

"हमारे नयन निरन्तर मृग-तृष्णा की ओर बढते हैं—हमारा मन सदा हमारे साथ प्रवञ्चना ही किया करता है । पर जो हम निरन्तर देखते हैं, वही सत्य नही होता, वह भी सत्य होता है, जो हम नही देख पाते । ऐसी दशा में तृष्णा का अन्तिम अमृत-घूँट पान करने के प्रलोभन में पड़कर जो व्यक्ति अपने जीवन-साथी को लात मारकर घर से बाहर कर देता है, क्या कभी उसने यह भी सोचा है कि कालान्तर में जब उसका वैकल्पिक मोहावरण भग होगा, तब वह उन आँसुओं का मोल कैसे चुकायेगा, जो उसके पदाघात की दारुण अवहेलना से पल, घटिका, प्रहर, दिन, सप्ताह, मास और वर्ष-के-वर्ष पार करके भी आज तक अविरल गति से झर-झर झरते ही रहे हैं, भीगे पलक सूख-सूखकर पुन:-पुन: गीले होते ही रहे हैं । देह का भूखा धर्म, उद्दाम यौवन का भयंकर दावानल, सहस्र-सहस्र वासन्तिक समीर का कल्लोल लुटित आह्वान जिसकी पावन अश्रु-गंगा पर सदा दीप-दान ही करता आया है ।"

मैं अपने हार्दिक भावों को न रोक सकूँ, तब इस तरह के प्रतिबन्ध का पालन मैं किसी तरह नही कर सकूँगा।"

उधर कई नवयुवतियाँ चेतना को बधाई देने के लिए आ खड़ी हुईं। प्रेरणा बोली—"तुमने अपने कथन के सत्य पर ऐसा जादू कर दिया कि वह पहले तो उत्तर देने से साफ इन्कार ही कर बैठा। पर फिर उस जादूगर ने अपने आप को कैसा सम्हाल लिया! यह तो मानना ही पड़ेगा कि बोलता वह एक बाँकपन के साथ है। लेकिन इससे क्या? तुमने अपने विषय का प्रतिपादन वास्तव मे बहुत सुन्दर ढंग से किया—बहुत सुन्दर ढंग से।"

उस समय सभी लोग एक दूसरे से विचार-विनिमय करने में तल्लीन हो गये। उन्हे इस बात का ध्यान ही न रहा कि इस प्रकार बातें करने से कितना अधिक शोर होता है।

इसी समय सभापति महोदय की घण्टी बजी। कोलाहल शान्त हुआ और सभापति ने अपना निर्णयात्मक भाषण दिया।

सबसे पहले उन्होंने सत्य के इस व्यवहार पर आपत्ति की कि वे विपक्षी वक्ता का वक्तव्य समाप्त होने से पहले ही बोल उठे। इसके सिवा वे मच पर भी नही आये। उन्होने कहा—"सभा की एक मर्यादा होती है, उसके संचालन का एक विधान होता है। जब सभा के प्रमुख वक्ता ही उस मर्यादा का निर्वाह नही करेंगे, तब सभा की उन्नति ही नही, स्थिरता भी सर्वथा सन्देहास्पद हो जायगी।"

इसी क्षण सत्य खड़ा हो गया और हाथ जोड़कर बोला—"सत्य उस समय अपने आपको भूल गया था। इस कारण वह क्षमा चाहता है।"

इस पर कुछ छात्र यकायक हँस पड़े और आपस में कुछ टीका-टिप्पणी करने लगे।

प्रेरणा ने चेतना के कन्धे पर हाथ रख उसके कान के पास मुँह ले जाकर मंद-मंद हास झलकाते हुए कहा—"लो, और सुनो। सत्य तुम्हारा भाषण सुनकर अपने आप को भूल गया।"

चेतना ने बड़े संयम से अपना हार्दिक उल्लास अवरुद्ध रखकर संकेत से उत्तर देते हुए कह दिया—"विषयान्तर मत करो।"

उसी क्षण उसकी दृष्टि सत्य से जा मिली। तब वह कुछ संकुचित हो उठी।

सभापति ने सभी भाषणों की आलोचना करते हुए कहा कि "चेतना के भाषण में बौद्धिक पक्ष उतना प्रबल नहीं है, जितना भावना पक्ष। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट किया और बतलाया कि सत्य के भाषण में बौद्धिक पक्ष अपेक्षाकृत अधिक निखरा हुआ है, किन्तु काव्यात्मक उद्‌गारों और अधिक अलंकृत कथनों के मोह से वह भी अपनी रक्षा नहीं कर पाया। जीवन के ठोस तथ्यों पर विचार करते समय कला और सौन्दर्य की समीक्षा करने लगना कुछ वैसा ही है, जैसा वार्षिक परीक्षा में निबन्ध लिखते-लिखते यह लिख बैठना कि क्षमा कीजिए, मैं अब इस समय थोड़ा जलपान करने के मूड में हूँ। हालांकि मिठाई ?—मिठाई तो जरूर होती है!"

इस पर सभा-भवन में हास्य की एक लहर दौड़ गई और सत्य अत्यन्त लज्जा में डूब गया।

अन्त में सभापति ने अपने निर्णय की सूचना देते हुए कहा कि "इस सभा की सम्मति में तलाक-प्रथा हमारे सामाजिक जीवन के विकास के लिए परम आवश्यक नहीं है।" इसके बाद उन्होंने

रता से उसने उत्तर दिया—"लेकिन मैं आपको क्षमा कर कैसे सकती हूँ! वास्तव में आपको मेरे बाबूजी के पास चलकर उन्ही से क्षमा माँगनी चाहिये। क्यों प्रेरणा, ठीक है न ?"

कुछ सोचती-सी प्रेरणा बोली—"बिल्कुल ठीक है।"

प्रेरणा चेतना के पीछे खड़ी थी। चेतना ने गाड़ी के अन्दर आगे बढ़ते हुए कह दिया—"आओ प्रेरणा, इधर मेरे सामने बैठ जाओ—आपके बगल में।"

सत्य ने उठना चाहा; पर तब तक प्रेरणा उसके पास आकर बैठती-बैठती बोली—"मैं सत्य को कभी अपने पास से जाने नहीं देती। आपको हमारे साथ चलना ही पड़ेगा।"

इस पर सभी हँस पड़े।

बाहर मुँह निकालती हुई चेतना कोचवान से बोली—"साहब की गाड़ी वह खड़ी है शायद। उसके कोचवान से कह दो—पीछे लगा ले।"

कोचवान बोला—"बहुत अच्छा सरकार!" और उसने तत्काल उधर देखकर जोर से कह दिया—"इधर लगा लो दादा, इसी गाडी के पीछे।"

चेतना की गाड़ी चल दी तो सत्य बोला—"लेकिन विनय जो मेरे साथ था, वह...उसका क्या होगा ?" फिर मस्तक पर हाथ रखकर स्वगत-सा कहने लगा—"पता नहीं, मुझे क्यों कभी-कभी...!" चेतना ने पीछे की ओर संकेत करते हुए बतलाया—"विनय वह बैठ रहा है, आप की गाड़ी में। आप चिन्ता न कीजिये।"

सत्य नाना प्रकार की कल्पनाओं से घिर गया। लेकिन क्षण-

क्षण पर वह मन-ही-मन यही कहने लगा—"प्रभु, तुम्हारी यह कैसी लीला है !"

प्रेरणा मुसकराते हुए बोली—"सच पूछिये तो विनय को सत्य के पीछे रहना भी चाहिये।"

तब तक दूसरी गाड़ी भी चल दी।

सत्य को रात भर नींद नहीं आयी। सभी कुछ उसे एक नाटक जैसा प्रतीत हो रहा था। हर दिशा में, हर वस्तु पर प्रति-क्षण, प्रति-पल उसे चेतना—केवल एक चेतना—का ही ध्यान आ रहा था। उसे इस बात पर कम आश्चर्य नहीं था कि क्यों वह वस्तुस्थिति को इतना भूल गया। क्यों उसने भावना में डूबकर बिना सोचे-समझे एक विक्षिप्त व्यक्ति की भाँति चिल्लाते हुए कह डाला कि नहीं-नहीं, मैं इस प्रश्न का उत्तर नहीं दूंगा। और फिर तारीफ यह कि उसके बाद जो कुछ मन में था, उसे तत्काल उगल भी दिया। इतना ही नहीं, वह यह भी कहे बिना नहीं माना कि सौन्दर्य्य मधुर नहीं कटु—अमृत नहीं विष—होता है ! किसने कहा था जनाब कि आप सौन्दर्य के सम्बन्ध मे भी अपनी राय का इजहार जरूर करते जाइये ?

आत्मावलोकन भी खो जाने का एक सुगम मार्ग है। सतोष की बात इतनी ही है कि इस प्रकार आदमी को शीशे में अपना मुँह देख लेने का अवसर मिल जाता है। किन्तु आत्म-चिन्तन का यह कितना उपहासजनक रूप है कि आदमी किसी पराई वस्तु को अपनी समझकर उस पर अधिकार जमाकर बैठ जाय !

लेकिन अगर यह घटना न होती, तो चेतना मुझे अपने घर

क्यों ले जाती, क्यों मेरा स्वागत करती, क्यों गुरुदेव से मेरा परिचय कराती ? फिर जब वह घर आया, तो चाचाजी ने अजीब प्रश्न कर दिया। बोले—"विनय को कुछ रुपये की जरूरत थी क्या ?"

सत्य पागल की तरह उनके मुंह की ओर देखता रह गया। उसने कहा—"नही तो। यह आप से किसने कहा कि वह रुपया माँगता था ?"

तब फुल्लो की तलबी हुई। वह बोली—"भाई साहब ने कहा था कि मुझे एक आदमी को रुपये देने हैं। और उस वक्त वो-जो, जो रोज आते है (ऐसे बोल रही है जैसे कोई चीज गले में अटक गयी हो और उससे निगला न जा रहा हो), जो हर वक्त चाय पीते हैं—मतलब यह कि—जब आते हैं तब !—वही, जिनकी नाक कुछ-कुछ मूली-सी है···!"

"क्या बकती है ?" झल्ला उठा ज्ञान। बोला—"ठीक तरह से विनयकुमार नाम नही लिया जाता ?"

"नाम वो मुझे कब बताकर जाते हैं !"

यानी कभी नाम बतलाया ही नही तो मैं क्या करूँ !

"उसने तेरे सामने सत्य से रुपये माँगे थे ?"

"मेरे सामने तो नही माँगे सरकार !"

ज्ञान कुछ विचार में पड गया। भौंहें तरेरकर बोला—"जा, अपना काम देख।"

फुल्लो चली गयी। तब अत्यन्त शान्ति के साथ, बल्कि थोडी दंत-पंक्ति भी झलकाते हुए ज्ञान बोला—"रुपये किसी को देने में कोई बुराई नही है। फिर भी मेरी इस छानबीन का मतलब सिर्फ इतना है कि जिस किसी को रुपया दो, यह समझ कर कभी मत

दो कि यह वापिस मिलेगा। फिर भी अगर देना ही है, तो यही अच्छा है कि दान समझ कर दो।"

तब सत्य को अर्थवाद का नग्न रूप उनके समक्ष रख देना पड़ा। उस समय उसका रोआँ-रोआँ जल रहा था। किसी प्रकार वह इस लांछन को सहन नहीं कर पा रहा था।

उसने कहा—"अपने मित्र विनयकुमार को भेंट, पुरस्कार अथवा दान-पुण्य में देने के लिए मैंने वह सौ रुपये का नोट नहीं तुड़ाया था। तुड़ाया था आपकी पगड़ी को आप के सिर से धरती के कीचड़ पर गिरने से बचाने के लिए। फैक्टरी में घनश्याम नाम का एक कर्मचारी था। टाइफायड में वह मर रहा था। उसके वेतन का जो रुपया बाकी था, जब उसका भाई लेने आया, तो आपके टुकड़खोरों ने यह कह कर उसे बाहर निकाल दिया कि रुपये उसी को मिलेंगे, जब वह खुद आयेगा। इस पर उसका भाई यह कहने आया था कि ऐसी अवस्था में घर से न आ सकने पर, चन्द दिन बाद, जब उसकी लाश फैक्टरी के फाटक से गुजरेगी, तब वे रुपये क्या उसकी प्रेतात्मा को दिये जायेंगे! वही भाई यहाँ आप से मिलने आया था, पर आप घंटे भर तक घर से निकले ही नहीं। उसी भाई को मैंने सत्रह रुपये नौ आने दिये थे जिसकी यह रसीद है, लीजिये।"

और तत्काल रसीद निकालकर सत्य ने उन्हें दे दी।

सत्य का उत्तर सुनकर ज्ञान का वदन काँपने लगा। वे सत्य को अपराधी बनाने चले थे। उस क्षण तो कुछ नहीं बोले; हाँ, दो मिनट बाद चुपचाप उठ कर चल दिये।

इस प्रसंग में एक बात छूटी जा रही है। वह यह कि जिस समय सत्य ज्ञान की बात का उत्तर दे रहा था, उस समय उनके

अत्यन्त आत्मीय—चाचीजी के खास भतीजे—मन्मथ बाबू, जो उन दिनों फैक्टरी के जनरल-मैनेजर हो गये हैं, एक बार झांकते हुए दीख पड़े थे।

पाँच

काल का चक्र घूम रहा है। इस चक्र में गति है; सृष्टि है, तो संघर्ष भी है। उससे ज्योति के स्फुलिंग फूटते हैं, वे सब के लिए एक से नहीं सिद्ध हो जाते। किसी के लिए वे प्रकाश के कण हैं, किसी और के लिए फूस के जंगल में एक चिनगारी। जो सब प्रकार से सम्भव है, काल के चारु-चरण उसे असम्भव बना डालते हैं। इसके विपरीत जो चारों ओर से असम्भव प्रतीत होता है, काल की करुणा-कोर उसे सम्भव करके जगत् की आँखो में एक-एक जुगनू खोंस देती है।

रात के सात बजे थे। सत्य फैक्टरी से लौट ही रहा था कि लोटन ने आकर उसे एक पत्र दे दिया। लिपि उसकी ज्ञान की थी और शब्द थे—देखो सत्य, आज घर पर कुछ झंझट ज्यादा है। तुम्हारी माँ की तबियत यो भी आजकल कुछ गड़-बड़ चल रही है, तुम्हें मालूम ही होगा। इसलिए न हो—तुम वहीं सो रहना। खाना भेज रहा हूँ। दूध तुम वहीं से मँगवा लेना।

पुनश्च—

रात के बारह एक बजे एकबार हो सके, तो फैक्टरी में चक्कर भी लगा आना। —तुम्हारा चाचा

'कुछ भी सत्य की समझ मे नहीं आया कि मामला क्या है। चाची की तबियत कैसी गडबड़ चल रही है—यह उसे बिल्कुल नही मालूम। महीनों हो गये, वे उसके कमरे में नही आयी। वह स्वयं जब कभी उनके कमरे में गया, तो सदा यही देख-देखकर लौट आया कि कभी उनके सिर पर तेल ठोका जा रहा है, कभी पिंडलियों पर मालिश हो रही है। हाँ, उस समय उन्होंने उसे अपने पास बुलाकर—थोड़ी देर के लिए वह कार्य-क्रम स्थगित करके—कुछ असाधारण प्यार की बातें अवश्य की है। जैसे—

—जीजी के पास जरूर हो आना। आखिर जन्म तो तुमने उन्हीं की कोख मे लिया है। माँ का हृदय ठहरा। कहाँ तक सुधि न आती होगी! और दादा तो हमारे देवता-पुरुष है। उनसे मैं कभी उऋण नही हो सकती।

फिर इतना कहते-कहते आँखों में आँसू भर लिये।

—कभी सौ-सौ के दस नोट मुझे यों ही दे दिये। वोली "रख लो इन्हे। खर्च हो जायँ—परवा नही। मेरे पास अभी डाल गये थे। वोलो, मैं कहाँ रखती फिरूँ?"

—कभी वोली—"अरी फुल्लो, देख तो अलमारी में जो पिस्ते की सेर भर बरफी, एक डब्बे मे, बन्द रखी है न, वह सब की सब भैया की अलमारी में रख आ। विश्वविद्यालय में पढता है। मिलनेवाले—रईसों और ताल्लुकेदारों के—एक-से-एक बढ़ कर लड़के आते रहते हैं। उनका कुछ तो आगत-स्वागत होना चाहिये। है कि नहीं?"

—कभी कहने लगी—"तेरा वो विनय कई दिन से नही देख पड़ा। बड़ा प्यारा लगता है मुझे। जैसे गनेश की-सी मूरत हो। कल उसको खाने के लिए कह देना, अच्छा!"

बात-की-बात में ये सारी बातें अपने-अपने सम्बन्धित दृश्यों के साथ उसके मानस-पट पर घूम गयी। तब खाना उसने अपने निजी कमरे में रख लिया और लोटन से कह दिया—"बस अब तुम जाओ।"

फिर जब सबेरे सत्य अपने घर पर लौटा, तो क्या देखता है, सदर द्वार पर रोशनचौकी बज रही है। भीतरी द्वार पर बन्दनवार लगी है। घर भर में कोलाहल मचा हुआ है। कँगलों को अनाज, पंडित को दक्षिणा और कम्बल बाँटे जा रहे हैं। पत्थर पर दूब जमी है। चाचाजी के पुत्र हुआ है!

छः

चेतना और मन्मथ बरसाती में पहुँचकर गाड़ी पर अभी बैठे ही थे और गाडी सड़क पर भी नहीं आ पायी थी कि मन्मथ बोला—"यह बन्दर तुम लोगों ने क्यों पाल रखा है?"

चेतना को मन्मथ की यह टिप्पणी पसन्द नहीं आयी। वह बोली—"सत्य के साथ यह आपका घोर अन्याय है। साधारण रूप में स्वरूप जन्मजात होता है। उसमें आदमी का वश क्या है? इसके सिवा केवल रूप आदमी के भविष्य के नाम पर कलंक है। यदि इस बात को हम विचार-पथ के सामने से हटा भी दें, तो हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि संसार की प्रत्येक वस्तु अपने गुणों में तुलनात्मक है। अर्थात् सुन्दर से सुन्दर वस्तु भी तुलनात्मक दृष्टि से असुन्दर हुआ करती है।"

.. बात बिल्कुल स्वाभाविक रूप से कही गयी थी। मूल में कहीं आरोप का कण भी न था। किन्तु जब वह अपने सम्पूर्ण वेग के साथ प्रकट हुई, तो मन्मथ एक बार स्तम्भित हो उठा।

चेतना ने लक्ष्य किया, जैसे मन्मथ की मुखश्री बात-की-बात में तिरोहित हो गयी हो।

मन्मथ ने उसी क्षण जेब में से सिगरेट का पैकेट निकाला। इतमीनान के साथ उसने एक सिगरेट निकालकर उसे सुलगाया, दो कश लिये। फिर कुछ गम्भीर और तीखे स्वर के साथ उसने कह दिया—"दुनिया में ऐसे गधों की कमी नहीं है, जो रात-दिन लाइब्रेरी को पीठ पर इसीलिए लादे फिरते हैं कि लोग उन्हें विद्वान् समझें। बी० ए० तक की शिक्षा भी कोई शिक्षा है?"

मन्मथ का दायाँ हाथ गाड़ी के पिछले भाग की रीढ़ पर कुछ इस ढङ्ग से रखा हुआ था कि वह चेतना के वाम स्कन्ध से छू-छू जाता था। इसलिए" "इससे क्या?" चेतना अपने सिर को उठा-कर जरा सम्हालती हुई बोली—"मनुष्यता का मूल्यांकन डिग्री, वैभव और रूप-मात्र से करना क्या हमें शोभा देता है? क्या मुझे कहना पड़ेगा कि यह उस परम्परा का पोषण है, जिसने हमारे देश की होनहार शक्तियों को असहाय और निर्जीव रहने के लिए विवश किया है, जिसने हमारी उत्थान-मूलक प्रवृत्तियों की जड़ें काटी हैं और जहाँ तक मनुष्य के विकास का प्रश्न है, जो बहुत गदा और एकदम से सड़ा हुआ दृष्टिकोण है।"

"तुम्हारा अभिप्राय शायद यह है" मन्मथ कुछ उत्साह के साथ टाई सम्हालता और कोचवान को लक्ष्य करता हुआ बोला —"सुनते हो मियाँ, सिविललाइन्स चलना होगा।" फिर तुरन्त चेतना की ओर मुँह फेरकर बोला—"माफ करना। हाँ, आपका

मतलब मैं यह समझ रहा हूँ कि मनुष्यता का मूल्यांकन शायद इस कसौटी पर होना चाहिये कि कोई आदमी बेढङ्गा कितना रहता है, गन्दगी मे वह खप कितना सकता है और शिक्षित होने पर भी, युग के अनुसार सभ्यता और शिष्टाचार में पीछे कितना है !"

निर्वेद के साथ चेतना हँस पड़ी। बोली—"खूब ! सत्य को आपने पहचाना और समझा खूब है !"

गाड़ी कैनिंग रोड से घूम रही थी। एक बँगले के सामने आते ही मन्मथ बोला—"जरा यहाँ रुकना होगा। इसी बँगले के अन्दर ले चलो।"

एक मिनट बाद बरसाती आते ही गाड़ी खड़ी हो गई और मन्मथ तथा चेतना उससे उतर पड़े। उनकी दृष्टि अभी बरांडे की ओर पड़ी ही थी कि भीतर से प्रेरणा, वत्सला और प्रभा हाथ जोड़कर नमस्ते करती हुई दीख पड़ीं।

प्रभा मुख की कान्ति के हिसाब से नामानुरूप है। किन्तु उसकी देहयष्टि कुछ दुर्बल विशेष है। वह एक महिला-विद्यालय मे अध्यापिका है। रहती उसके छात्रावास में ही है; यद्यपि है विवाहिता। उसके पति राजकीय प्रेस मे पुस्तक-विभाग के अधिकारी हैं। संतान कोई नही हुई और आजकल तो आपस में कुछ खटपट भी चल रही है।""प्रेरणा की आँखों मे महीन-महीन काजल है, भाल पर लाल-लाल रोली। दिन में दो-तीन बार नहाना और प्रति बार साड़ी बदलना, प्रति सप्ताह इयरिंग बदल-बदलकर पहनना और

सहेलियों के बीच नोंक-झोंक चलाये रखना उसका एक सुनिश्चित और प्रिय कार्यक्रम है।

और यह वत्सला शरीर की नाटी भर है जरा सी, बाकी सब ठीक है। उसकी चपलता कल्पना के पंखों पर बैठकर उड़ा करती है। वर्ण की कुछ अधिक श्वेत है, किन्तु हँसते अथवा लजाते क्षण मुखकान्ति गुलाबी झलक मारती है। दावत देने की शौकीन है और कुरसी पर बैठे-बैठे सो जाना उसके लिए एक साधारण बात है। पिताजी के मन्तव्यानुसार व्याह के लिए दो युवक आये थे, जिन्हें भेट से पहले 'हुश' करके भगा चुकी है। इसके बाद मामला ठप है।

मन्मथ घड़ी देखता हुआ बोला—"जान पड़ता है, आप लोग अभी तैयार नहीं है।"

प्रेरणा ने एक सांस लेकर मन्मथ को सिर से पैर तक देखा। देखा बनाव-सिंगार बिल्कुल रजतपट के कलाकारों जैसा हुआ है। जान-बूझकर कुछ दोष निकालना ही हो, तो बात दूसरी है। अन्यथा कहीं से बिन्दु-विसर्ग की भी कोर-कसर रह नहीं गयी है। फिर उसने यह भी लक्ष्य किया कि मन्मथ साधारण वार्तालाप में भी मुस्कराहट व्यक्त किये बिना नहीं मानता। यकायक उसके मन में आया—'अच्छा, तो यह मुसकराहट सौन्दर्य के असाधारण अभिनव आकर्षण के प्रति अपनी मुग्ध भावना प्रकट करने का एक साधन है।'

तब वह विचार में पड़ गयी।

मन्मथ से प्रेरणा की यह प्रथम भेट नहीं है। पहले भी वह उससे मिल चकी है; किन्तु आज चेतना के साथ होने के कारण सम्भव है, उसके मन में कोई नयी बात उठी हो।

प्रभा बोली—"अभी चलती हूँ। तैयार होने में देर क्या लगती है ! तब तक आप बैठिये, आइये इधर निकल आइये।"

कथन के साथ वह आगे होकर अपनी बैठक की ओर चलदी। वहाँ पहुँचने पर मन्मथ की दृष्टि कमरे में लगे सांस्कृतिक चित्रों की ओर जा पड़ी।

प्रभा बोली—"आप बैठें, मैं अभी चाय भेजती हूँ।" और चल दी।

मन्मथ ने उसी क्षण कह दिया—"चाय भेजने की जरूरत नहीं। हम लोग अभी पीकर ही आ रहे हैं। बस, आप जल्दी-से-जल्दी तैयार हो जायें।"

वत्सला को पता है कि उसके पिता ने ये चित्र भारत के श्रेष्ठ चित्रकारों से कितने आग्रह, अनुरोध और कभी-कभी कितने अधिक दाम देकर प्राप्त किये है। किन्तु उसने मुँह बिचकाकर कहना शुरू कर दिया—"आपको इनमें एक भी चित्र पसन्द न आयेगा, यह मैं जानती हूँ। मैंने दादी से कितनी बार कहा है कि ऐसे मामूली चित्र यहाँ टाँगना हमें शोभा नहीं देता। पर वह अपनी जिद के आगे किसी की सुनती ही नहीं।"

चेतना वत्सला की ओर ध्यान से देखने लगी। उसकी इस बात पर उसे आश्चर्य हो रहा था। उधर प्रेरणा मुसकरा रही थी।

मन्मथ अपने बड़प्पन का अनुभव करता हुआ बोला—"चित्रों के चुनाव में लोगों का दृष्टिकोण प्राय. एकांगी रहता है। रंगों से उनको बड़ा प्रेम होता है। और मैं स्पष्ट देख रहा हूँ, इन चित्रों में रंगों के मेल के सिवा कोई खास बात तो है नहीं।"

वत्सला कुछ गम्भीर हो गयी थी। उसके मन में आया कि

एक वाक्य में वह मन्मथ के अज्ञान का भंडा फोड़ दे। किन्तु इस समय चुप रहना ही उसने समुचित समझा।

इसी समय सुरती दासी पान-तम्बाकू की तश्तरी ले आयी।

चेतना बोली—"लेकिन ये पान तो खाते नही।"

वत्सला ने आदेश करते हुए कहा—"सिगरेट का डब्बा ले आ।"

प्रेरणा ने चेतना की ओर देखते हुए पूछा—"मौसी जाने वाली थी। चली तो नही गयी?"

चेतना सकोच मे पड गयी। बोली —"अभी कुछ दिन शायद रहूँगी।"

सुरती मन्मथ के लिए सिगरेट ले आयी। मन्मथ उसे सुलगा ही रहा था कि प्रभा तैयार होकर आ पहुँची और मन्मथ उठ खड़ा हुआ।

वत्सला चेतना की ओर देखकर मुसकराती हुई बोली—"कमरे मे लगे ये चित्र मन्मथकुमार को पसन्द नही आये दीदी। उनका कहना है कि रगो के मेल के सिवा इनमे कोई विशेष बात नही है।"

प्रेरणा इतने जोर से हँस पडी कि बडी मुश्किल से गाड़ी में बैठ सकी और मन्मथ तो पानी-पानी हो गया। आश्चर्य और आशंका मे डूबकर उसने प्रेरणा की ओर देखा, सहानुभूति और अवलम्ब के भाव से प्रेरणा की ओर और रक्षा की दृष्टि से प्रभा की ओर।

अन्य लोगों के बैठ जाने के बाद अन्त मे चेतना के साथ आगे बैठता हुआ मन्मथ अभी अच्छी तरह सँभल भी न पाया था कि गाड़ी चल पड़ी और प्रभा बोली—"यह जरूरी नहीं है कि किसी

मिल का मैनेजर ललित कलाओं पर बोलने का भी अधिकारी हो। आपको भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये मन्मथ बाबू। पिताजी ने ये चित्र देश-विदेश के गिने-चुने लब्ध-प्रतिष्ठ चित्रकारों से कई हजार रुपये में खरीदे हैं। कला की दृष्टि से इनका महत्त्व इतना ऊँचा है कि हम लोग तो उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।"

मन्मथ हक्का-बक्का-सा रह गया। वत्सला उसका इतना मजाक बनायेगी, यह उसने सोचा तक न था।

वत्सला मन ही-मन रस ले रही थी। वह एकदम चुप थी। उधर प्रेरणा की हँसी अब भी भीतर समा नहीं रही थी। मुसकान के व्याज में वह बोली—"पर आपने यह नहीं सुना कि मन्मथ से इस सम्बन्ध में इस तरह की राय किस तरह ली गयी।"

हँसी के मारे प्रेरणा की आँखों में पानी भर आया था। अतः वह रूमाल से आँखें पोछने लगी।

प्रभा ने कहा—"वत्सला ने कुछ शरारत की होगी।"

चेतना बोली—"और यह भी तो एक अच्छा खासा मजाक है कि इस समय वही वत्सला इतनी चुप है, जैसे इस विषय का उसके साथ कोई सम्बन्ध ही न हो!"

मन्मथ ने कहीं सुन लिया था कि जो कला हम समझ नहीं पाते, अथवा जो हमारे साधारण ज्ञान और कल्पना से परे होती है, वह किसी काम की नहीं होती। अनुपयोगी होने के कारण वह व्यर्थ है। इसी बात को उसने तर्क के रूप में उपस्थित कर दिया। बोला—"वत्सलाजी ने बड़े कौशल से मेरी राय ली, इसमें संदेह नहीं।"

इस वाक्य के साथ मन्मथ के दाँत मुसकराहट के प्रकार में किञ्चित झलक उठे। मानो उसने प्रकट करना चाहा कि इस

परिहास ने उसको अप्रतिभ- करने की चेष्टा अवश्य की है, पर ऐसी साधारण बातों का उस पर कोई प्रभाव नही पड़ता।

इतने में पुनः उसका एक वाक्य आगे बढ़ गया—"परन्तु राय तो मेरी अपनी है और उसके विचार का उत्तरदायित्व भी मुझी पर है। आप लोगों को यह न भूलना चाहिये कि वत्सलाजी यदि मेरा परिहास ही करती रहें, तो एक दिन यह समझना असम्भव न होगा कि उनका मेरे साथ बैठना-उठना या लड़ना-झगड़ना आप लोगों के लिए हँसने का विषय होते हुए भी हम लोगों के लिए सम्पूर्ण जीवन का विषय बन गया है। क्योंकि इतना तो आप मानेंगे कि हास-परिहास का मनुष्य के अन्तर्मन के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।"

अब प्रेरणा का हँसना यकायक बन्द हो गया। वह सोचने लगी—'जाना पड़ता है, बात गम्भीर रूप धारण करने जा रही है।'

प्रभा बोली—"बुरा मानने की आवश्यकता नहीं है मन्मथ भाई! बड़प्पन बड़ी अच्छी चीज है। किन्तु उसकी भी एक सीमा होती है। उसका दम्भ मनुष्य के विकास की गति को रोक देता है।"

"बड़प्पन और उसके दम्भ की गन्ध पाने-न-पाने की बात आप जानें।" कहते हुए मन्मथ का स्वर कुछ और गम्भीर हो गया। बोला—"मैं अपनी राय पर अब भी दृढ़ हूँ। जो कला मनुष्य के साधारण ज्ञान के लिये दुर्लभ है, जो हमारी समझ में नहीं आती, मैं उसे अनुपयोगी और व्यर्थ मानता हूँ।"

प्रभा उत्तर में कुछ कहने जा रही थी कि चेतना बोल उठी—"इस बात का उत्तर मुझे दे लेने दो दीदी!"

प्रभा अपना कथन रोकती हुई, चेतना की ओर देखकर बोली—"अच्छा, तू ही कह ले।"

तब चेतना बोली—"आपका कहना है कि 'जो कला मेरी समझ मे नहीं आती, मैं उसे अनुपयोगी और व्यर्थ मानता हूँ।' अब मैं आप से यह जानना चाहती हूँ कि आप की समझ का प्रमाप क्या है? आपको पता होना चाहिये कि ससार में प्रत्येक गुण की स्थिति सापेक्ष्य है। एक उदाहरण लीजिये। कल्पना कीजिये कि एक जहाज है और उसके अन्दर कोई गाड़ी जा रही है। अब प्रश्न है कि गाडी में बैठा हुआ व्यक्ति स्थिर है या गतिशील?

मन्मथ बोला—"स्थिर होने पर भी गतिशील है।"

चेतना के होंठो पर हास झलकने लगा। उसने पूछा—"किन्तु उसके लिए जहाज क्या है?

"थिर।"

"और समुद्र के लिए?"

"गतिशील।"

चेतना बोली—"तो इसी प्रकार समुद्र और पृथ्वी जहाज में बैठे व्यक्ति के लिए स्थिर है, किन्तु सूर्य के लिए वे भी गतिशील हैं। अब मैं आप से पूछती हूँ कि कला आपके लिए अनुपयोगी होने पर भी क्या वास्तव मे अनुपयोगी है? और यदि कोई वस्तु आपकी समझ में नही आती, तो क्या इसीलिए वह व्यर्थ हो जायगी? आपकी समझ यदि सीमित है, तो यह आपका गुण है? वस्तु-स्थिति पर तो उसका कोई प्रभाव नही पड़ना चाहिये।"

गाड़ी सिनेमाघर के पास पहुँच गयी। सब लोग उतरने लगे। वत्सला का ध्यान मन्मथ की मुद्रा की ओर स्थिर था। उसे गम्भीर देखकर वह किंचित् आत्मिक क्लेश का अनुभव करने लगी।

मन्मथ प्रेरणा के साथ सिनेमाघर के अन्दर जाकर सबका टिकट ले आया। चेतना ने कहा—"यह आप क्या कर रहे हैं ?" मन्मथ बोला—"क्यों, क्या हुआ ? इतनी छोटी सी चीज का आप इतना ख्याल कर रही हैं ? आश्चर्य की बात है।" तदनन्तर यह मंडली चित्र देखने में लीन हो गयी। पर दस मिनट भी न हो पाये होंगे कि वत्सला अपनी कुरसी से उठकर प्रभा के पास वाली कुरसी पर आ गयी। प्रभा कुछ कहने भी न पायी थी कि वत्सला ने स्वयं ही कह दिया—"वहाँ एक खटमल ने मुझे परेशान कर डाला। इसलिये···।"

इस बात को सुनकर चेतना सन्न रह गयी और प्रभा विचार में पड़ गयी।

फिर मध्यान्तर हो गया। बिजली का प्रकाश फैलते ही अपनी स्थिति सम्हालती हुई वत्सला बोली—"बात मैंने उठाई थी। मेरे कारण आप इतने गम्भीर हो गये हैं। वास्तव में हम लोग मनोरंजन के लिए इकट्ठे होते हैं। अतएव ऐसी साधारण बातों को तो मनोरंजन के रूप में ही लेना चाहिये।"

मन्मथ मुसकराता हुआ बोला—"पर यह आप कैसे कह सकती हैं कि मैं बुरा मान गया ?"

फिर एक तुच्छता की-सी हँसी के साथ कहने लगा—"जो भी हो, यह अच्छा हुआ कि अन्त में आपने अपनी भूल स्वीकार कर ली। सापेक्ष्यवाद का उदाहरण देते समय आपने यह न सोचा होगा कि वह अन्त में मेरा ही पक्ष समर्थन करने में सहायक होगा। आप अपने इस कथन से यही तो कहने जा रही हैं कि चित्रकला के उच्चतम आदर्श एक वर्ग विशेष के लिए अत्यन्त अभिनन्दनीय

होते हुए भी अन्य लोगों के लिए महत्त्वहीन हो सकते है । और यह स्वीकार करने मे मुझे कोई आपत्ति नही कि मैं भी उसी वर्ग का हूँ ।"

मन्मथ की बात सुनकर वत्सला हँस पडी । बोली—"आप वास्तव में बड़े चालाक हैं । बात का रुख कितनी सरलता से आपने बदल दिया, यह देखकर मैं आश्चर्य मे पड़ गयी ।"

चेतना भी बिना मुसकराये न रह सकी । वह बोली—"चालाक तो खैर है ही, जिद्दी भी एक ही हैं । प्रतिकूल विचारो और सिद्धान्तो का समर्थन करने मे आपको सकोच नही होता । और गलती स्वीकार करना तो आप जैसे जानते ही न हो ।"

प्रेरणा बोली—"आपका व्यक्तित्व बहुत आकर्षक है, इसमें सन्देह नही । पर उससे भी अधिक आकर्षक है आपका शुभ नाम ।"

चेतना इस बात पर खिलखिलाकर हँस पड़ी । साथ ही उसने उसकी पीठ पर एक घूसा भी जमा दिया । फिर हँसती-हँसती बोली—"और तेरा नाम ?"

प्रभा ने मध्यस्थ का काम किया । बोली—"वत्सला के षड्-यन्त्र मे योग देकर चेतना बहुत खुश हो रही थी; पर मुझे संतोष है कि आपने अपने पक्ष का अन्त तक बहुत अच्छा निर्वाह किया ।"

जल-पान के आदान-प्रदान के बीच चित्र पुनः प्रारम्भ हो गया । इस बार मन्मथ प्रभा के पास बैठा था । थोड़ी देर में उसने भी अनुभव किया कि वत्सला ठीक कह रही थी ।

सहसा वह उठ खड़ी हुई । बोली—"मैं तो अब जाऊँगी । मेरी तबियत ठीक नहीं है ।"

वत्सला बोली—"मुझे मिचली-सी आ रही है। मैं भी जाऊँगी।"

तब मन्मथ को भी साथ देना पड़ा।

सिनेमा से लौटने पर और तो सब लोग गाड़ी में बैठे हुए परस्पर विचार-विनिमय करते रहे, एक मन्मथ ही चुप रहा। इस बात की ओर चेतना के सिवा और किसी का ध्यान नहीं था। मार्ग में प्रेरणा बैठी रही। पर प्रभा और वत्सला गाड़ी खड़ी कराकर जब उतरने लगी, तो वत्सला ने पुन. मुसकराते हुए कहा—*"आज बड़ा आनन्द आया। अब कब मिलोगी चेतना?"*

चेतना उस समय अपने आप में ही लीन हो रही थी। जैसे कोई आदमी सो रहा हो और आहट सुनकर एकाएक उठ बैठे। ठीक उसी भाँति अपने आप में आश्चर्य का एक झटका खाकर वह बोल उठी—"एँ! क्या कहा?"

प्रभा हँस पड़ी। बोली—"जान पड़ता है, नींद आ गयी थी।"

चेतना ने उत्तर दिया—"नींद नहीं आयी दीदी, ध्यान बटा हुआ था। रही आने की बात, सो कल न आ सकी, तो परसों अवश्य आऊँगी। पर अगर मैं किसी कारण न आ पाऊँ, तो फिर तुम आ जाना।"

वत्सला और प्रभा एक साथ बोल उठीं—"हाँ, बस यह ठीक है।"

दोनों अन्दर जाने लगीं। अभी फाटक से थोड़ा ही आगे बढ़ पायी थीं कि वत्सला घूमकर बोली—"और मन्मथनाथजी, आप कब आ रहे हैं?"

मन्मथ ने वत्सला की बात पर ध्यान न देकर कह दिया—"गाड़ी जल्दी बढ़ाओ।"

चेतना ने कुछ कहना उचित न समझा। उधर प्रभा मन्मथ का उत्तर न पाकर कहने लगी—"जान पड़ता है बुरा मान गया है।"

रास्ते भर तीनो मौन रहे। न चेतना बोली, न मन्मथ, न प्रेरणा।

घर पहुँचकर जब चेतना बराण्डे के भीतर जाने लगी, तो मन्मथ भी झट से आगे बढ़कर उसके साथ हो लिया। प्रेरणा रेडियो की खुटियाँ घुमाकर पहले गाना सुनने लगी। फिर मन्मथ को सामने देखकर बोली—"हाँ, अब बोलिये। कैसा रहा खेल ?"

मन्मथ को चुप देखकर चेतना बोली—"तुझे खेल की पड़ी है।"

"और इनको ?" प्रेरणा ने छेड़ के बहाने पूछा।

चेतना बोली—"इन्ही से पूछो।"

मन्मथ अब तक खड़ा था। अब पास आकर कुर्सी पर बैठ गया। जेब से सिगरेट निकालकर उसे सुलगाया, दो कश लिये और धुंआ उडाता हुआ बिल्कुल साधारण भाव से बोला—"मैंने तो पूरा आनन्द लिया। पर बहस में हार जाने के कारण सम्भव है, कुछ लोगों का मन अस्थिर हो गया हो और वे पूरा आनन्द न ले पाये हों।"

बात कहते हुए वह बराबर मुसकरा रहा था।

इसी क्षण चेतना दूसरे कमरे की ओर बढ गयी। मन्मथ भी उठ खड़ा हुआ और बोला—"अब चलूंगा।"

प्रेरणा जान-बूझकर मन्मथ को छेड़ती हुई बोली—"जाइयेगा ? अच्छा। वैसे सत्य भी अब आता ही होगा। ऐसा अध्ययनशील व्यक्ति मेरे देखने में नही आया।"

मन्मथ जब गाड़ी पर बैठकर चलने लगा, तो उसे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे उसके पास की सब-की-सब पूंजी लुट चुकी है। यह भी भरोसा नहीं कि कहीं से उधार मिल सके। क्योंकि प्रतिभा और उसका गौरव अगर पैसे से खरीदा जा सकता, तो भगवान की इस सृष्टि का महत्त्व बहुत अंशों में गिर जाता। वह सोचने लगा—'मुझ-सा हीन व्यक्ति इन लोगों की दृष्टि में दूसरा नहीं है। मैं इनके सामने इतना मूर्ख सिद्ध हो गया हूँ कि आम को इमली बतलाने पर उसे इमली ही कहने लगता हूँ! मैं इतना निर्लज्ज हूँ कि हार को भी जीत बतलाकर 'ही-ही' करके हँसता रहता हूँ! मैं बहस करने के लिए बहस करता हूँ। मेरे अपने कोई विचार नहीं है; सिद्धान्तों और विश्वासों पर चलना और उनके लिए कुछ त्याग करना मैं कतई नहीं जानता। रूप का मोह मुझको इतना भोला बना सकता है कि अपमान किये जाने पर भी मैं कुत्ते की भांति उसकी छाया के पीछे-पीछे घूमता रहता हूँ।

इन विचारों में मन्मथ इतना लीन हो गया कि उसे ध्यान ही न रहा, उसकी अँगुलियों में पड़ी सिगरेट सारी-की-सारी जल चुकी है और वह क्षण निकट है कि उसकी अँगुलियां आग से चहँक जायें! सिगरेट का पैकेट निकालने के इरादे से उसने जब जेब में हाथ डालने की चेष्टा की, तब कहीं उसे अपनी स्थिति का ज्ञान हो सका।

कर्नलगज का चौराहा आ गया था। हाथ की सिगरेट का टुकड़ा फेंककर पास के एक रेस्तोरां की ओर संकेत करते हुए मन्मथ कोचवान से बोला—"बस, ठहरो।"

क्षण भर बाद गाड़ी से उतरकर दूसरी सिगरेट जलाता हुआ मन्मथ उसी रेस्तोरां में घुस गया।

सात

ज्येष्ठ के शुक्लपक्ष की एकादशी है, यह जानकर यकायक भोजन के समय गुरुदेव को अतीत की कुछ घटनाएँ स्मरण हो आयी। यों चाहे स्मरण न भी आती, किन्तु चेतना ने जब उनको सूचना दी कि "कटरा के वैद्य श्रीसानताप्रसादजी की कन्या सरला के ब्याह का निमन्त्रण आया था बाबूजी!" तब वे बोले—"हाँ, आया था। देखा था उसे मैंने। पर अभी तो एक-आध दिन की देर है न ?"

"नहीं तो बाबू," पिता की शिथिल स्मरणशक्ति पर ध्यान देती-देती सम्यक् मुसकराती हुई चेतना बोली—"पाणिग्रहण संस्कार आज ही होगा। एकादशी आज ही तो है। आज ही आपको उनके यहाँ जाना है।"

कहीं चेतना की बात सत्य न हो, इस आशंका से यकायक ग्रास को मुँह की ओर बढ़ने से रोककर गुरुदेव किसी भूली बात को मन में टटोलते हुए, विस्मय और विषाद से, स्वर को कुछ तीव्र करते हुए बोले—"क्या कहा! आज एकादशी है?"

"हाँ बाबू," दृढ़ता के स्वर में चेतना बोली—"आज एका-दशी है। आज ही आपको वैद्यजी की कन्या को आशीर्वाद देने जाना है।"

तब गुरुदेव यकायक अतिशय उद्विग्न हो उठे और एकटक आकाश की ओर देखकर रह गये। अभी आधा भोजन भी उन्होंने नहीं किया था कि तुरन्त पानी पीकर थाली आगे से सरका दी। फिर बोले कुछ नहीं, उठ खड़े हुए।

चेतना उनकी इस प्रकृति से परिचित थी कि ऐसे अवसरों

पर वे प्रायः मौन रहते हैं। कोई कुछ पूछे भी, तो उत्तर नहीं देते। तभी उसने बिना कोई प्रश्न किये गुरुदेव को आचमन कराया और तौलिया हाथ में दे दिया। फिर मुखशुद्धि के लिये दौड़कर तश्तरी में इलायची रखकर ले आयी। विश्राम के लिए जब गुरुदेव अपनी लाइब्रेरी की ओर जाने लगे, तो बोले —"आज शाम को सात बजे जरा देर के लिये मेरे पास आ जाना चेतना।"

बात सुनकर चेतना सोच-विचार में पड़ गयी कि आज एकादशी तिथि का नाम सुनकर उन्होंने खाना क्यों बन्द कर दिया; फिर वे इतने गम्भीर क्यों हो गये और क्या कहने के लिए आज वे मुझे सात बजे सायंकाल बुला रहे हैं!

गुरुदेव के यहाँ खाना बनाने के लिए आज भी वही ब्राह्मणी आती है, जो बीस वर्ष पहले आती थी। इसी घर की नौकरी में उसका वैधव्य बीता है। सायंकाल चाहे जितना जाड़ा पड़ रहा हो, रात अधिक हो गई हो और प्रातःकाल चाहे सूर्योदय भी न हो पाया हो, गोपी की माँ समय पर ही आयी हैं और जब उनको घर के काम से छुट्टी मिल गयी है तभी वे अपने घर गयी हैं।

इस समय भी वे एक ओर बैठी थीं। गुरुदेव के जाते ही वे चेतना के निकट आ गयीं।

चेतना ने उनके अधखाये उठ जाने की बात कहते हुए आज की तिथि के साथ इस घटना के सम्बन्ध पर किसी रहस्य की आशंका का जो भाव प्रकट किया, उसे लक्ष्यकर गोपी की माँ बोलीं—"तुम तो उस समय बिल्कुल बच्ची थीं लल्ली, जब तुम्हारी माँ का शरीर छूटा। तुमको मालूम भी कैसे होता! मुझे कुछ ऐसी याद आ रही है कि हो-न-हो इसी तिथि को वे मरी थीं।

तक चेतना अबोध थी, संसार का उसे कुछ ज्ञान नहीं था, तबतक उसे इस सम्बन्ध में पिता से कुछ पूछने का न साहस हुआ, न इस रहस्य का कोई ऐसा आधार मिला। पर आज एकाएक संयोगवश स्वयं उन्ही ने उसके भीतर नाना प्रकार के प्रश्न और भाँति-भाँति की आशंकाएँ क्यों उत्पन्न कर दी ?

चेतना का उत्तर न पाकर गोपी की माँ ने फिर अनुरोध किया—"चलो लल्ली, खड़ी क्यों हो ? सोच क्या रही हो ? मेरी समझ से सोचने की इसमे कोई बात नहीं है।"

रुँधे हुए कण्ठ और आँसुओं से भरे नयनों से चेतना बोली —"तुम्हारे कहने से मैं कैसे मान लूँ ? बाबूजी बिना खाये उठ गये है और तुम कहती हो, कोई बात नही है ! जब कि अभी क्षण भर पहले खुद तुम्ही ने कहा था—'पर यह बात मेरी समझ में नही आती कि इतने दिनों बाद उस बात को लेकर बाबू जी इतने दुःखी क्यों हो रहे हैं !' इसके सिवा माँ कि मृत्यु की इस तिथि के दिन किसी भी वर्ष, कभी, मैंने उन्हें इतना दुःखी होते नही देखा। परसी थाली छोड़कर जब वे उठ खड़े हुए, तब तुम उनको देख पाती, तो जानतीं, उनके मन पर क्या बीत रही है ! मैं तब तक खाना नहीं खा सकती, जब तक मुझे उन बातों का पता नही लग जाता, जिनके कारण बाबू भूखे उठ गये है !"

गोपी की माँ जानती थी कि चेतना एक बार जो संकल्प कर लेती है, फिर सहसा उसे कभी नही छोड़ती। इसलिए इस विषय में एकदम नकारात्मक उत्तर देकर उसका समाधान करना सम्भव नही है। अतः वह बोलीं—"लेकिन मैं ही तुमसे झूठ क्यों कहूंगी ? तुम एक माँ की बात पूछती हो। पर मैं तुमको पूरे कुटुम्ब का हाल बतलाऊँगी। मुझसे कोई बात छिपी नहीं। एक तो ऐसी कोई

वात है ही नहीं, जो तुम्हारे लिये सोचने की हो, जिसको सुनकर तुम खाना-पीना छोड दो। दूसरे ऐसी कोई वात अगर होगी भी, तो मैं उसे तुमसे छिपाकर कौन-सी जायदाद खड़ी कर लूंगी !"

यात कहकर गोपी की मां ने चेतना के कंधे पर हाथ रख दिया; फिर उस हाथ को वह उसके सिर पर फेरती हुई वोलीं— "चलो, देर मत करो।"

चेतना को यह स्थिति अनुकूल जान पडी। तव वह धीरे-धीरे *उसके साथ-साथ रसोई की ओर चल पडी।*

चेतना से आज भरपेट खाना न खाया जा सका। थोड़े में तृप्ति मान वह उठ खडी हुई। वह चाहती तो गोपी की मां से इस विषय में और भी थोडी-वहुत पूछताछ कर सकती थी। पर उसने ऐसा नही किया। इस सम्वन्ध में वारम्वार वह यही सोच रही थी कि देखूं, वावू ने क्या कहने के लिये मुझे वुलवाया है। *देखूं, वे स्वय कुछ वतलाते है या नही। गोपी की मां मुझे वहुत* चाहती है, वचपन से ही माता की भांति उनका स्नेह, उनकी ममता मुझे प्राप्त रही है। परन्तु मेरी रचना में उनका वाह्य भाग ही रहा है। अन्तर को पीडा, मन का भेद और घटनाओं की यथार्थ व्याख्या तथा उनसे सम्वन्ध रखनेवाले नाना प्रकार के भाव-परिवर्तन और कुछ काल के लिए जीवन पर प्रमुख प्रभाव स्थापित *रखनेवाली प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण तो वावू ही कर सकते हैं।*

थोड़ा-सा ही खाना खाकर जव चेतना उठने लगी, तो गोपी की मां ने कहा—"तुम्हारी मां मामूली स्त्री नही थी। उनकी सारी जिन्दगी दान-धर्म में वीती। जिस किसी का उनसे कुछ काम पड़ा, वह उनको जिन्दगीभर नही भूल सका। फिर वावू जी के साथ तो उनका इस लोक का ही नहीं, परलोक तक का

आता था। दिन जाते देर नही लगती बेटो। इतने दिनों के बाद अगर उनकी याद ने उनका पुराना दुःख हरा कर दिया, तो इसमें अचरज की कोई बात नही है। सरकार की तरह आज तुमने भी तबियत भर भोजन नही किया। देखती हूँ, अगर तुम्हारा यही हाल रहा, तो अब इस घर में मेरा रहना कैसे हो सकेगा! नौकरी की भले ही कमी न हो, पर यह भी तो अच्छा नही लगता कि जिस घर के साथ मेरा बीस-बाईस बरिस से ताल्लुक रहा हो, उसको छोडकर अब इस बुढापे मे मैं दूसरा घर खोजती फिरूँ!"

भोजन से उठती हुई चेतना बोली—"तुम इतना बेकार गबड़ाती हो। कौन तुमको दूसरा घर खोजने के लिए मजबूर कर रहा है? कौन तुमको जवाब देता है? बाबू के मन की दशा जानकर भी तुम ऐसी बातें करती हो, यह मेरी समझ में नही आता।"

"समझ में क्यों आयेगा" कंठ-स्वर को रुदन की भाँति गीला बनाकर गोपी की माँ बोली—"समझ में आ जाता, तो इस तरह मेरा अपमान ही क्यों होता!" और इसके बाद दोनों आँखों को धोती के आँचल से ढककर वे रोने लगी।

'गोपी की माँ का अपमान किस तरह हो गया' इस बात ने चेतना को और भी संशय में डाल दिया। तब आज तक उसने कौन-कौन-सी बातें कही, वह उनको क्रम-क्रम से स्मरण करने लगी। उसे याद हो आया कि अभी इसी ने कहा था—'पर यह बात मेरी समझ में नही आती कि इतने वर्ष बाद उस बात को लेकर सरकार के मन मे ऐसा दुःख क्यों उत्पन्न हो रहा है!'

'तो मेरी माँ की मृत्यु उनकी स्वाभाविक मृत्यु नहीं थी! उसके अन्दर कोई रहस्य की बात थी। और घटना उस परिणाम

का नाम है, जिसके सम्बन्ध में पहिले से कुछ निश्चित न हो, जिसका कोई आधार प्रकट न रहा हो, जिसकी पहिले से कोई सम्भावना न हो।—हूँ तो यह बात है !' यकायक उसने स्वगत की भाँति मन-ही-मन कहा। फिर उसे स्मरण हो आया, इसने कहा था—'अब इन बातो में कोई सार नहीं रह गया। अब उनकी याद करके दुःखी होना बेकार है।' अर्थात् अब इस सम्बन्ध की चर्चा न चलाई जाय। क्योंकि चर्चा चलाने से कुछ ऐसे भेद खुल जाने की सम्भावना है, जिनसे उसका अहित हो सकता है।—'तो इस चर्चा ही को नही, इस सम्बन्ध में यदि कुछ अनिष्ट भी हुआ होगा, उसको भी यह इसी भाँति पर्दे में छिपाकर रखती आयी है।'

फिर चेतना ने सोचा—अभी-अभी इसने कहा था—'सोच क्या रही हो ? सोचने की कोई बात भी हो।' यदि बात यही तक रहती, तो भी कोई चिन्ता न होती। पर फिर उसके बाद यह कहे बिना वह न रह सकी कि 'मुझसे कोई बात छिपी नही है। मैं तुमको पूरे कुटुम्ब का हाल बतलाऊँगी। एक तो ऐसी कोई बात है ही नही, और अगर होगी भी, तो मैं उसको तुमसे छिपाकर ही कौन-सी जायदाद खड़ी कर लूँगी !'

सायंकाल पिता के पास जाती हुई चेतना इन्हीं विचारो में संलग्न थी। धीरे-धीरे सम्हल-सम्हलकर पैर रखती हुई वह लाइब्रेरी की ओर जा रही थी, जिसमें पैरों की धमक से उनका ध्यान न भंग हो; एक दालान, जिसके किनारे कोठरी छूटी जा रही है। फिर सीढियाँ, आँगन, फिर सीढ़ियाँ, इधर-उधर दोनों ओर गमले, फिर बरामदे में आगतों की प्रतीक्षा के समय बैठने के लिए पड़ी बेंचें और कुर्सियाँ। फिर द्वार पर जोधा माली।

जोधा चेतना को देखकर प्रसन्नता से खिल उठा। धीरे से बोला—"कहाँ जा रही हो लल्ली? बाबू जी से मिलने? पर वे तो इस समय एक साहब से बातचीत कर रहे हैं। लेकिन कोई बात नहीं, तुम जाओ।" साथ ही मन-ही-मन कहने लगा—'मैं कितना बेसहूर आदमी हूँ कि जो बात दूसरों से कहने की है, वह तुमसे कह रहा हूँ!'

चेतना आगे बढ़कर द्वार के पास ठिठुक गयी। जान पड़ा, वास्तव में कोई बातें कर रहा है। लेकिन वह है कौन—कुछ जान तो पड़े! तब वह कुछ और आगे बढ़ी; उसका एक पग ही आगे बढ़ना था कि वह संकोच से ठिठककर आदेश की प्रतीक्षा करने लगी।

उधर जोधा को अपनी गलती जब सहन न हो सकी, तो वह कान पकड़कर उठने-बैठने लगा। बारम्बार उसका मन कहता—'और कोई नहीं देखता, तो मेरा मन तो देखता है इस गलती को, जिसमें ईगुर का वास है।'

गुरुदेव तो उसकी प्रतीक्षा में थे ही। बोले—"आओ चेतना!"

चेतना तब पिता के बिल्कुल निकट आ गयी।

पास की कुरसी पर बैठने का संकेत कर गुरुदेव बोले—"बैठ जाओ।"

चेतना उसी पर बैठ गयी। बैठते समय उसने अपनी दुग्ध-धवल साड़ी से पैरों में पड़े चप्पल और अँगुलियों तक को ढक लिया।

गुरुदेव का ध्यान पुनः पूर्वागत की ओर आकृष्ट हो गया। लेकिन उसी क्षण उनके मन में आया—न जाने मैंने चेतना को क्यों, किस अभिप्राय से बुलाया था? फिर मन में उठते प्रश्नों को उन्होंने

यथास्थान दवा लिया और सत्य की ओर प्यार से देखते हुए कहने लगे—

"तुम इधर और निकट आ जाओ सत्य ! और चेतना, तू भी उतनी दूर मत बैठ बेटी !"

सत्य ने अपनी कुरसी गुरुदेव के निकट खिसका ली और चेतना भी कुछ संकोच के साथ पास आ गयी ।

तब गुरुदेव बोले—"युग कुछ इतना बदल गया है कि पुरानी मान्यताओं में अब कोई विशेष रस नहीं दिखलायी पड़ता । क्यों सत्य, तुम्हारा इस विषय में क्या विचार है ?"

चेतना के मुख पर जो हास झलक आया, तो रूमाल उसने अपने मुँह से लगा लिया । उसका मन कह रहा था कि बाबू ने बात कुछ ऐसे ढंग से प्रारम्भ की है, मानो आँखों में कम दिखाई देने की स्थिति में, हम टटोल-टटोलकर अपने वातावरण, अपनी सीमा और भावी पथ का ज्ञान प्राप्त कर रहे हों ।

सत्य बोला—"मैंने ईश्वर को देखा तो नहीं; पर अगर मैं उसे देख पाता तो सच जानिये गुरुदेव, मैं अपने आँसुओं से उसके चरण धो-धोकर यही पूछता कि तुम्हारी ही एक संज्ञा मैं भी हूँ । इसलिए—कम-से-कम मुझे तो—इतना बतला दो प्रभु कि तुम्हारी मान्यताओं में भी कभी परिवर्तन होते हैं ?"

"यह क्या कह रहे हो तुम सत्य ? एँ !" आश्चर्य के साथ गुरुदेव ऐसे मर्माहत हो गये कि उनका कण्ठ भर आया, आँखें चमकने लगीं ।

एक सन्नाटा छा गया । क्षण भर बाद फिर आप-ही-आप गुरुदेव बोले—"मेरी यह चेतना कहा करती है कि मनुष्य वन्ययुग

की ओर जा रहा है। जिस बात को वह तर्क से नही मनवा सकता, उसको अणु-उद्जनादि बमों से मनवाने को तत्पर है !"

"और भी एक बात है बाबू जी !" सत्य बोला—"सभ्यता की चरम उन्नति हो चुकी। अब नौबत यहाँ तक आ गयी है कि उसे हर घड़ी शीशे मे अपना मुँह देखने की जरूरत पड जाया करती है। बेईमानी, पक्षपात और अन्याय—इन तीन वृत्तियो को मिलाकर एक नवीन वृत्ति का निर्माण हो रहा है। वह है मनुष्य-स्वभाव। बड़े-से-बड़े अपराध आज क्षम्य है, क्योंकि यह मनुष्य-स्वभाव है। सत्य के लिए कष्ट सहनेवाला व्यक्ति आज मूर्ख है, क्योंकि वह जीना नही जानता। बुद्धिमान आज वह है, जो 'सोलह दूनी आठ' मनवा लेता है। क्योंकि उसके पास आँखों मे धूल झोंकने का बल है। और गुरुदेव इसी बल का दूसरा नाम आज बुद्धि है।"

गुरुदेव चेतना की ओर देखते-देखते कुछ हँस पड़े और बोले—"यह चेतना इसी तरह बका करती है!··· क्यों री ?··· खैर ये बाते तो चलती ही रहेंगी। पहले यह बतलाओ, अब तुम्हारा विचार क्या है ?"

"किस सम्बन्ध मे बाबूजी ?"

"यही कि तुम्हारे जीवन का कार्यक्रम क्या है ? देश के काम मे हाथ डालकर···?" कहते-कहते गुरुदेव रुक गये।

सत्य उनके मुख की भाषा पढ़ने में लगा था।—आज यह अवसर अकारण नही उपस्थित हुआ है, यह वह समझ रहा था। चेतना ने भी उसे आकृष्ट कम नही किया है। जिस समय वह उसके कमललोचन-दलों पर दृष्टि डालता, उस समय उसे किसी

की याद आ जाती। तभी वह सोचने लगता—'क्या यह सम्भव है?'

इसी समय गुरुदेव के इस वाक्य और उसकी ध्वनि पर उसका ध्यान आकृष्ट हो गया। तब वह विचार में पड़ गया।

उसे स्मरण हो आया कि एक वर्ष पूर्व एक दिन भ्रमर ने संगीत महोत्सव मे, अपने नृत्य पर उससे बाँसुरी बजाने का प्रस्ताव जो किया तो उसने उसको अस्वीकार करते हुए कहा था—"मैं रूप के स्थायी महत्त्व को स्वीकार नही करता, क्योंकि वह सापेक्ष्य है।"

भ्रमर स्तब्ध रह गयी थी। उसका स्वप्न टूट रहा था। तब सत्य ने कहा था—"फिर, मेरी बाँसुरी तुम्हारी वासना-तृप्ति के लिए नही बनी। मेरे सामने मेरा महान् देश है—अचेतन और अर्धसभ्य! दरिद्रता, कायरता और क्षुद्रता से ओत-प्रोत, अपेक्षाकृत अशिक्षित, असंस्कृत और सर्वस्या अव्यवस्थित। मेरी बाँसुरी उन अर्धमृतको के लिए है, जो निराश जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे है। यदि वे आश्वासन का सम्बल न पा सके, तो इस धराधाम पर कैसे रहेगे? मरते क्षण वे जीवन का कम-से-कम एक राग तो सुनते जायँ!"

तब भ्रमर रो पड़ी थी। रोते-रोते उसने अपनी आँखें सुजा डाली थी। मैं टस-से-मस न हो सका। वह खम्भे से लगी खड़ी थी और मैं जा रहा था। उसने कहा—"सुनो।" पर मैंने नहीं सुना। मैं वहां नही ठहर सका।

मेरा उत्तर था—मेरी बाँसुरी व्यक्ति के लिए नही बनी, फिर मैंने सुना—'मेरे मरने पर रोना नही।' मैं उस समय सीढ़ियाँ

उतर रहा था, भ्रमर ऊपर से बोल रही थी। मैंने उत्तर दिया—"मैं आँसू को जल-कण समझता हूँ !"

उसे स्मरण हो आया, चेतना के पलक भ्रमर से कितने मिलते हैं ! वह काँप उठा। कल उसने विनय से सुना है—भ्रमर को टी० बी० हो गयी है। उसे यही सोच-सोचकर दु:ख हो रहा था कि क्यों उसने भ्रमर से बातचीत की, क्यों उससे परिचय प्राप्त किया ? फिर उसी क्षण वह सोचने लगा—'पतगे जलते ही रहते है, किन्तु दीपक अपने दीप्ति-दान में अन्तर नहीं पड़ने देता। प्रेम निर्मम होता है।'

तब सत्य ने उत्तर दिया—"मैंने काम शुरू कर दिया है गुरु-देव !"

"हूँ—और यह जीवन ?" उन्होंने थोड़ा रुककर पूछा।

"आप ही ने कल कहा था गुरुदेव, मैं भूला नही हूँ।—देश-भक्तों की जाति नहीं होती, उनका कोई धर्म नही होता। यहाँ तक कि कोई एक स्थिर नीति भी नही होती। आज क्या आप कोई नयी बात बता रहे है ?"

गुरुदेव ने नही देखा कि किस क्षण चेतना उठकर चली गयी। वे चुप हो रहे; स्थिर, मूर्तिवत्। फिर थोड़ा ठहरकर बोले—

"तुमसे मिलकर मुझे बड़ा सुख मिलता है सत्य ! अच्छा फिर मिलना। हो सके तो आज ही शाम को।"

सत्य जब बाहर निकला, तो क्या देखता है कि चेतना एक आम की डाल के सहारे बैठी हुई प्रेरणा से बातें कर रही है। प्रेरणा ने देखा कि सत्य विचारों के साथ खेल रहा है। तब

वह सत्य की ओर उन्मुख हो बोली—"कहिये किस लोक में विचरण कर रहे है ?"

सत्य मुसकराने लगा। बोला—"यह तुम पूछ रही हो प्रेरणा ?"

उसको कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि इस कथन से चेतना के चिन्ता-ग्रस्त आनन पर एक प्रकार का परिवर्तन उदय हो उठा है।

प्रेरणा तब सत्य की ओर पदक्षेप करती हुई कहने लगी—"क्यो, मैं न पूछूँगी तो और पूछेगा कौन ?"

इतने मे सत्य ने देखा, चेतना अन्दर की ओर जा रही है। तब उसने कहा—"पूछो, जो कुछ भी पूछना हो, अवश्य पूछो; पर कृपा करके यह मत पूछो कि सत्य किस लोक में विचरण कर रहा है। जहाँ प्रेरणा और चेतना एक साथ मिल जाती हों, वहाँ सत्य के लिए किसी अन्य लोक मे विचरण करने की आशका करना उचित नही है।"

प्रेरणा हँसने लगी। बोली—"अच्छा, एक बात बतलाइये मिस्टर सत्य !"

सत्य बोला—"जो पूछे सो बतलाऊँ, पर कृपा करके आप मुझे 'मिस्टर' न कहा करें देवी प्रेरणा !"

प्रेरणा के आनन पर हास फूट पड़ा। बोली—"क्यों, आपको यह विशेषण रुचिकर नही लगता ?"

बाहर की ओर चलते-चलते सत्य के मुँह से निकल गया—"नही, बल्कि कुछ ऐसा लगता है, मानो मिस्टर के साथ सत्य रूप, रस और गन्ध से परे होकर केवल कंटक रह गया है।"

"अच्छा पुष्पराज !" हँसती हुई प्रेरणा बोली—"धृष्टता के लिए क्षमा। पर आप जाते कहाँ है ?"

"कोई आज्ञा हो तो रुक जाऊँ, अन्यथा जाना तो है ही।" सत्य ने उत्तर दिया।

प्रेरणा निकट आ गयी। बोली—"सखी से विना मिले चले जाइयेगा ?"

परिहास-गर्भित सत्य के मुँह से निकल गया—"तो सखी से कहे न जाकर—सखा जा रहा है !"

प्रेरणा खिलखिलाकर हँस पड़ी।

सत्य जो कुछ आगे वढ़ा और गाडी के निकट आ गया, तो क्या देखता है, चेतना उसके भीतर से निकल रही है।

सत्य से न रहा गया। वोला—"इस समय तो मुझे कुछ काम है चेतना ! अन्यथा मैं "मैं"'मेरा मतलव यह है कि आपको भीतर से निकलने न देता।"

चेतना हँसने लगी, फिर हाथ जोडकर नमस्कार करती हुई वोली—"अच्छा, अव आप जाइये।"

सत्य गाडी पर आसीन हो गया तो प्रेरणा निकट आ गयी। गाड़ी चल पड़ी, तो प्रेरणा ने कहा—"अगर अवकाश मिले, तो सखी का आग्रह है कि एक वार संध्या को भी'''। समझ गये न ?"

सत्य वोला—"ओ. के.।"

गाड़ी जा रही थी।

ज्ञान को आज सत्य ने प्रभावित कर दिया है, मन्मथ को यह

बात बुरी तरह खटक रही थी। अतएव वह उससे मिलने का अवसर खोजने लगा।

ज्ञान फैक्टरी में नित्य आता था। पर उस समय सत्य प्रायः विश्वविद्यालय मे रहता था। मन्मथ सोचता था कि मेरी प्रतिष्ठा के लिए यह आवश्यक है कि इसी समय ज्ञान के कान भर दिये जाँय।

ज्यों ही ज्ञान उधर गया, त्यों ही मन्मथ बोल उठा—"आप से कुछ जरूरी बात करनी थी। क्या इस समय···?"

ज्ञान बोला—"कहो-कहो, आओ!" और उसे अपने कक्ष में ले आया।

कुर्सी पर बैठते ही मन्मथ बोला—"किस बात पर इतना तड़प रहे थे, बाबू साहब?"

मन्मथ के इतना कहते ही ज्ञान की भृकुटियों पर तनाव आ गया। बोला—"किस तरह बात कर रहे हो तुम आज मन्मथ? कम-से-कम इतना लिहाज तो तुम्हे रखना चाहिए कि जिस व्यक्ति के सम्बन्ध में तुम मुंह खोल रहे हो, वह मेरा···।"

बात काटते हुए मन्मथ कुछ व्यंग्यात्मक रूप से बोला—"पुत्र है! पुत्र तो क्या है, लेकिन खैर···। मैं इस विषय में कुछ कहने का अधिकारी भी नहीं। मुझे तो सिर्फ इतना कहना है कि फैक्टरी के मैनेजर की हैसियत से मेरे प्रबन्ध में अगर दखल न दिया जाय, तो ज्यादा अच्छा होगा।"

"नहीं, मेरा मतलब सिर्फ यह है कि जलन ही अगर बुझानी हो तो उसके और भी उपाय हैं--और भी क्षेत्र हैं। फैक्टरी को, युद्ध-भूमि बनाने का नतीजा अच्छा न होगा—न मेरे लिए, न सरकार के लिए !" जान-बूझकर मन्मथ अत्यन्त संयम से काम ले रहा था। एक-एक शब्द वह इस तरह बोल रहा था, जैसे गणित के प्रश्न में अंकों का लेखन हो।

"अच्छा, तो तुम मुझे यह पढाने आये हो कि सत्य तुमसे द्वेष रखता है। इसीलिए उसने घनश्याम नामक कर्मचारी का वेतन रोकने का जाल रचा है ?"

"मेरी हैसियत ही क्या है, जो मैं आपको पढ़ाऊँगा।" मन्मथ ने जान-बूझकर अत्यन्त आज्ञाकारी स्वामि-भक्त नौकर बनकर कहा—"मैं आपके चरणों की सेवा करने में सदा गर्व ही अनुभव करता रहा हूँ। पर अब मुझे आपसे डर लगने लगा है। क्योंकि यही हाल रहा, तो किसी वक्त मैं आपकी कृपा-दृष्टि से वञ्चित भी हो सकता हूँ। खैर, आप कुछ भी समझें—कुछ भी कहें। मैं इतना बतला देना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि आप बहुत बड़े भ्रम में हैं। मैं निश्चयपूर्वक जानता हूँ कि आपको मेरे विरुद्ध बहकाया जा रहा है। निश्चयात्मक रूप से मेरे खिलाफ एक जाल रचा जा रहा है।…पर सांच को आंच क्या ! कल आप आफिस में आकर अपनी आँखों से देख लीजियेगा कि घनश्याम को रुपया दिया गया है या नहीं।"

ज्ञान के कान डोल गये। उसके मन में आज पुनः एक संशय उत्पन्न हो गया। वह सोचने लगा—'तब सत्य प्रकाश में नहीं, अन्धकार में है।' उसके मुंह से निकल गया—"अगर ऐसी बात

है, तो तुमको चिन्ता करने का कोई अवसर नहीं है। मैं कल तीन बजे आ रहा हूँ।"

मन्मथ ज्ञान के चरणों की रज मस्तक पर लगा छाती फुला-कर चल दिया।

आठ

संध्या समय जब सत्य ने गुरुदेव के सरस्वती-मन्दिर में प्रवेश किया, तो गुरुदेव प्रतिमा की भाँति स्थिर बैठे थे। सत्य-प्रकाश ने जब उनको प्रणाम किया, तो उनके होंठ किञ्चित् हिल गये। किन्तु इसके पश्चात् उनकी मुद्रा पहले से भी अधिक गम्भीर हो गयी। फिर यकायक किवाड़ हिले और एक तश्तरी में गुलाब के फूलों का गुच्छा लिये जोधा अन्दर आ पहुँचा।

चेतना बोली—"मैं चढ़ाये देती हूँ। आप बैठे रहें बाबू!"

क्षण-भर के लिए सत्य रुक गया। कुतूहलवश वह देखने लगा कि इस समय इन फूलों का क्या प्रयोजन?

गुरुदेव ताड़ गये। बोले—"जिन ग्रन्थों पर मेरी श्रद्धा है, उनके रचनाकारों का एक बार स्मरण करके कुछ पुष्प उन पर चढ़ा देता हूँ। विश्व के निखिल विचारक और मर्मी भौतिक जगत् के लिए मौन हैं। किन्तु भावना के जगत में उनका अस्तित्व हमारे लिए पूर्ववत् स्थिर है। मैं उन्हें आज भी जीवित देखता हूँ। मैं निरन्तर उनकी वाणी सुनता हूँ। मैं नित्य उनसे बातें करता हूँ। जीवन की कठिन-से-कठिन समस्याओं में उन्हीं का संदेश पाकर

मैं अग्रसर होता आया हूँ। अनेक बार ऐसे अवसर आये है कि मैं आत्मघात कर लेता। इन्हीं विचारकों की कृपा थी कि मैं अब-तक जीवित हूँ। यद्यपि अब जीने की इच्छा नही रह गयी।"

कहते-कहते गुरुदेव खड़े हो गये। सत्य पूर्ववत् खडा रहा। चेतना आरती कर रही थी। गुरुदेव अपने स्थान से उठे और बात-की-बात में सजल-नयन होकर कहने लगे—"हम तुमको भूल गये, लेकिन तुम हमको नहीं भूले। हमने सभ्य हो-होकर जड़ बनना सीखा, पर तुमने अपना पसीना, अश्रु, और रक्त सुखा-कर—उत्सर्ग कर-करके—हमको चेतना दी। आज जगत् मे चारों ओर नैतिक पतन के कारण हाहाकार मचा हुआ है। कोई ऐसी नवज्योति, नवकिरण, नवप्रभा करो देव कि विश्व का अन्धकार दूर हो जाय। स्वार्थों में लिप्त होकर मनुष्य आज अन्धा हो गया है!"

इसके बाद गुरुदेव रो पडे। भीगी पलकों से आँसू टपकाते और रुद्ध-कण्ठ से हार्दिक-व्यथा की मर्म-वाणी प्रकट करते हुए वे बोले—

"आज एक जाति दूसरी जाति के नाश पर तुल गयी है। अबोध शिशुओ को स्तन्य-पान कराती हुई ललनाओ की लाज आज संकट में है। जिन बालकों को शिक्षा-सदनों मे अध्ययन करना चाहिये, वे सड़कों, रेलो और मेलो में लेमन-ड्राप्स बेचते फिरते है! मनुष्य ने आज एक दूसरे का विश्वास खो दिया है! माताओ के चीत्कार, बालकों का क्रन्दन, ललनाओ का हरण, बलात्कार और नर-संहार! प्रभु, यह तेरी कैसी लीला है!"

यकायक कथन की भाषा रुक गयी। अब केवल मौन रह गया और रह गई क्रन्दन की सिसकियाँ।

प्रेरणा और चेतना दोनो के नयन आँसुओं से भीग गये। थोड़ी देर में एक स्थायी मौन के बाद गुरुदेव पुनः बोले—"मैंने जो पाप किये थे, *क्या अवतक उनका शमन नहीं हुआ ? मेरे प्रति अदृष्ट* की प्रतिहिंसा क्या अभी तक पूर्ण नहीं हुई ? हाय मैंने एक भी ऐसे व्यक्ति का जीवन निर्माण नहीं किया, जो मेरे आदर्श पर चलकर ज्वलन से भरी मेरी इस आत्मा को शान्ति देता।"

इसके वाद गुरुदेव मौन हो गये। एक वार उन्होने सत्य की ओर दृष्टिपात किया, दूसरी वार चेतना की ओर।

सत्य को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे कोई एक अद्भुत शक्ति मेरा आह्वान कर रही है। मै उसके निकट खिचा चला जा रहा हूँ। वह अपनी दृष्टि गुरुदेव की दृष्टि के साथ स्थिर नही रख सका। किन्तु उसे अनुभव होने लगा कि यदि इस क्षण मैंने गुरुदेव के चरणों पर गिरकर कोई सकल्प नही किया, तो सम्भव है, कोई अनिष्ट हो जाय। अपने ऊपर होनेवाली दुर्घटनाओं मे वह नही डरता था। किन्तु यह विश्वास उसे अवश्य था कि हो सकता है, गुरुदेव के जीवन पर इसका बुरा प्रभाव पडे। विश्व-कल्याण के लिए वह उनके जीवन को वहुत अधिक मूल्यवान मानता था।

चेतना इस कमरे मे वहुत कम आती थी। यह तो उसे मालूम था कि वाबू नित्य इन फूलो से ग्रन्थो की पूजा करते है, परन्तु इस प्रकार की उपासना के समय उसने उन्हें प्रायः मौन रहते ही देखा था। आज जो दृश्य उपस्थित हुआ, उसकी उसने कल्पना भी नही की थी।

आरती उसने यथास्थान रख दी। उसकी लौ को भी पहले उसने, फिर सत्य ने, अपने मस्तक तथा सिर से लगा लिया। परन्तु उसके कथन का कोई उत्तर उसने भी नहीं दिया। अकल्पित और

अप्रत्याशित वातावरण से वह कुछ आतंक में भी आ गयी। वह अपने आपसे पूछने लगी कि आखिर यह सिलसिला क्या है ? सवेरे बाबू और मेरा, आधा भोजन करके उठ आना, फिर इस समय क्षुधातुर स्थिति में सरस्वती-मन्दिर मे आकर इस प्रकार उपासना करना, फिर इसी बीच में सत्य से वार्तालाप। आखिर यह सब भी क्या पहले से निश्चित था !

तब वह अपने आपसे पूछने लगी—'बाबू के इस उद्‌गार का क्या अभिप्राय है कि 'हाय ! मैंने एक भी ऐसे व्यक्ति का जीवन निर्माण नहीं किया, जो मेरे आदर्श पर चलकर ज्वलन से भरी आत्मा को चिर शान्ति दे पाता !'—क्या वे मुझ पर कोई भार डालना चाहते हैं ? क्या उनकी इच्छा यह है कि मैं आजन्म कौमार्य्य व्रत का निर्वाह करके उन आयोजनाओं को सफल बनाऊँ, जिनमें अब तक वे कृतकार्य नहीं हुए ?'

इसी क्षण सत्य बोल उठा—"आप कह क्या रहे हैं गुरुदेव ! चेतना के निर्माण मे आपके सिवा किसका हाथ मुख्य है ? इसके सिवा, पिछले तीस वर्षों मे क्या तीन सौ से अधिक विद्यार्थियों के जीवन का निर्माण आपने नहीं किया ? आपने ही उन्हें छात्र-वृत्तियाँ नही दीं ? आपने ही उनकी वार्षिक परीक्षा का शुल्क नहीं दिया ? आपने ही उनकी उन दुर्बलताओं को दूर नही किया, जिनके कारण उनका जीवन, जीवन न रहकर मृत्यु का ग्रास बन जाता ! क्या आपने उनकी रोती-कलपती हुई कुलवधुओं की आर्त्त-वाणी नहीं सुनी ? क्या उनके भविष्य का सुनहला पथ आपने निर्माण नहीं किया ? फिर भी आप अपने जीवन से इतने असं-तुष्ट प्रतीत होते हैं। आखिर आप चाहते क्या हैं ?"

गुरुदेव यकायक हँस पड़े। ऐसे समय उनका हँसना सत्य को

कुछ विचित्र जान पड़ा। और चेतना तो कम्पित हो उठी। दोनों एकटक उन्हें देखते रह गये। तब अत्यन्त गम्भीर वाणी में गुरु-देव बोले—"प्रशंसा का मोह मुझको छू नहीं पाता सत्य! अपने को ही समझना तो कठिन होता है। उसी का आज तक अभ्यास किया है। अभी वह समय नहीं आया, जब मेरे जीवन के क्षण-क्षण का भेद जानने का तुमको अवसर मिलेगा। चेतना ने ही कई बार मुझसे अपनी माँ के सम्बन्ध में कुछ जानने का भाव प्रकट किया, किन्तु क्या वह सब मेरे बतलाने की चीज है? उसका सब कुछ मिट गया है—किन्तु जो अमिट है, उसको तो कोई मिटा नहीं सकता। उसकी आत्मा को शान्ति चाहे मिल भी जाय, पर मेरी आत्मा " अः !"

बस, इतना ही वे कह सके।

वे आरामकुरसी पर लेटे हुए थे। यकायक उनका सिर एक ओर लुढक गया। सत्य और चेतना दोनों-के-दोनों एकदम से अत्यधिक घबरा गये। तब जोर से सत्य ने पुकारा—"जोधा!"

जोधा निमेष-भर में सामने आगया।

चेतना बोली—"यकायक बाबू की तबियत खराब हो गयी। जरा सुनना।"

सत्य बोला—"तुम तब तक यहीं रहना, अच्छा मैं पड़ोस के मुकर्जी बाबू के यहाँ फोन करके डाक्टर तिवारी को बुला लूँ।"

चेतना बहुत घबरा गयी थी। असहाय दृष्टि से उसकी ओर देखकर बोली—"लेकिन।"

"लेकिन वेकिन कुछ नहीं। कर्त्तव्य की ओर ध्यान दो। तीन मिनट में आता हूँ।" इतना कहकर सत्य चला गया।

बात-की-बात में जोधा आ पहुँचा। इतने में गुरुदेव ने आँखें

खोल दीं। उनका हाथ झट हृदय पर पहुँच गया और वे यकायक कराहने लगे।

चेतना रो पड़ी।

जोधा बोला—"घबराओ मत, कोई नयी बात नहीं है। पाँच-छै बार इसी तरह का दर्द हो चुका है। एक-आध दिन में अच्छा हो जायगा।"

चेतना को ध्यान आ गया कि कई बार बाबू इसी तरह बीमार पड़ चुके हैं।

जोधा कह रहा था—"सरकार को यों भला कभी कुछ हो सकता है! अरे राम कहो। वे जब मरेंगे, तब अपनी इच्छा से मरेंगे। भगवान के यहाँ से उनके लिए विमान आयेगा।"

चेतना को जोधा की बातों पर कभी विश्वास नहीं हुआ था। पर आज उसे उसकी बातों में गौरव की झलक मिली। और कुछ न सही, धैर्य तो उसने दिया ही।

सत्य तीन मिनट में लौटने की बात कह गया था। चेतना सोचती थी, दस-पांच मिनट तो लगेंगे ही। पर वह यह देखकर अवाक् हो उठी कि सत्य वास्तव में चार मिनट में फोन करके लौट आया।

चेतना का मुख एक दम म्लान हो गया था। सत्य ने आते ही अनुभव किया, जैसे एक अनाश्रित और असहाय अवस्था की-सी आशंका उसके आनन पर खेल रही है।

इतने में चेतना सत्य की ओर देखकर बोल उठी—"माँ का सुख, मैंने जाना ही नहीं, वह होता कैसा है! भाई को भगवान ने जन्म ही नहीं दिया। एक बाबू हैं, वे भी जान पड़ता है, विदा

लेना चाहते हैं। सत्य, तुमने कभी सोचा है, भगवान की यह पावन सृष्टि इतनी निर्मम क्यों है ?"

सत्य स्वयं कम उद्विग्न नहीं था। किन्तु अपनी व्यथा प्रकट करके वह चेतना का दु:खावेग और बढ़ाना नहीं चाहता था। अतएव अत्यन्त धैर्य और दृढ़ता के साथ उसने थोड़े हास का पुट देकर उत्तर दिया—"क्योंकि यह सृष्टि है चेतना। संहार के साथ सृष्टि का ऐसा ही घनिष्ट सम्बन्ध है।"

सुनकर चेतना स्तब्ध हो उठी।

इसी क्षण बँगले के बाहर कार का हार्न सुनाई पड़ा।

चेतना बोली—"जान पड़ता है, डाक्टर तिवारी आ गये।"

तदनन्तर सचमुच वे अपना सफेद हैट उतारते तथा मुसकराते हुए आ पहुंचे। द्वार से अन्दर आते ही उनकी तीव्रगति मन्द पड़ गयी।

थोड़ी देर स्थिर खड़े रहकर उन्होंने गुरुदेव की चेष्टाओं का अध्ययन किया और उसके बाद वे निकट आकर उनकी परीक्षा में ल गये।

चेतना का ध्यान गुरुदेव की ओर था। प्रेरणा सत्य के निकट बिलकुल उससे मिली हुई खड़ी थी। संयोग देखकर वह उसके कान के पास मुंह ले जाकर कहने लगी—"लक्षणों से आपको कैसा प्रतीत होता है ?"

सत्य ने उसकी ओर घूमकर जो देखा, तो देखा कि चेतना उसे देख रही है।

परीक्षा कर लेने के अनन्तर डाक्टर तिवारी बोले—"जान पड़ता है हृदय पर किसी घटना का आघात लगा है। एक इंज-

क्शन तो मैं इसी समय देता हूँ। इसके सिवा एक मिक्सचर भी। उससे तुरन्त लाभ होगा। घबराने की कोई बात नहीं है।"

उन्होंने तुरन्त एक नुसखा लिख दिया।

नुसखे को सत्य के हाथ में देते हुए उन्होंने कहा—"टंडन के यहाँ न मिले, तो घोपाल के यहाँ भी देख लेना।"

सत्य नुसखा लेकर जाने लगा, तो चेतना बोली—"मैं ले आऊँगी। आप क्यों कष्ट करते है ?"

प्रेरणा बोल उठी—"और मैं किसलिए हूँ ?"

तभी सत्य बोल उठा—"और सत्य किस दिन के लिए है ?" गम्भीरता से उठकर वह थोड़ा चेतन भी झलकने लगा।

डाक्टर तिवारी इंजेक्शन दे रहे थे और चेतना अश्रुसिक्त नयनों से गुरुदेव की ओर एकटक देख रही थी। जब डाक्टर इंजेक्शन दे चुके और उनके साथ में आया कम्पाउण्डर बैग सम्हालने लगा, तो चेतना ने आर्त्तवाणी में पूछा—"डाक्टर साहब, सच-सच बतलाइये, क्या मैं बाबू को पुनः स्वस्थ दशा में देख सकूँगी ?"

डाक्टर साहब कुछ सोचते हुए-से, एक क्षण के लिए, चेतना की ओर देखते रह गये। तब चेतना की आशंका और अधिक तीव्र हो उठी। डाक्टर साहब सोचने लगे—'इसका दुःख देखकर तो मेरा भी साहस डिग जाता है ?' फिर भी दृढ होकर उन्होंने कहा—"अभी निश्चयपूर्वक तो कुछ कहा नहीं जा सकता। पर जहाँ तक ऐलोपैथी का विकास हो पाया है, मैं इतना कह सकता हूँ कि अभी उनके जीवन के लिए कोई वैसा संशय नहीं है। फिर मेरा कर्त्तव्य है पूर्ण प्रयत्न करना। रक्षा करनेवाला तो कोई और है।"

डाक्टर के इतना कहते ही चेतना की आँखों से आँसुओं की धारा वह चली। रोते-रोते साँस उसके अन्दर समाती न थी।

तब डाक्टर तिवारी बोले—"दवा तो अपना काम करेगी ही। पर ऐसे समय यदि गुरुदेव की आँखें खुली और उन्होंने तुम्हे इस तरह रोते देख लिया, तो मुझे भय है कि उनके मानस पर कहीं कोई घातक प्रभाव न पड़ जाय। तुम पढ़ी-लिखी समझदार लड़की हो चेतना ! परिस्थिति देखकर चलना तुम्हारा कर्त्तव्य है।"

चेतना ने डाक्टर के कथन से कुछ प्रभावित होकर आँसू पोंछ डाले। कुछ स्वस्थ होकर उसने बतलाया—"बाबू आज दोपहर को अघखाये उठ आये थे। आपको मालूम होगा, कटरा के वैद्यजी की कन्या का विवाह है। मैंने इसी बात की सूचना देते हुए बतलाया था कि आज एकादशी है। बस, एकादशी का नाम सुनकर वे यकायक चौंक पड़े। नित्य की भाँति मैं इस सरस्वती-मंदिर की आरती कर रही थी। प्रार्थना करते-करते उन्हें मेरी माँ का स्मरण हो आया होगा। बोले—'उसकी आत्मा को शान्ति चाहे मिल भी जाय, पर मेरी आत्मा······!' और बस, इसके व.द वे अचेत हो गये !"

कथन समाप्त करके चेतना ने डॉक्टर तिवारी के मुख पर अपनी दृष्टि स्थिर कर दी। क्षणभर में ही उसे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ मानो इस कथन को सुनकर वे भी कुछ अस्त-व्यस्त हो गये हैं। डॉक्टर तिवारी थोड़ा ठहरकर बोले—"हो सकता है कि इसी बात ने उनके हृदय को आघात पहुँचाया हो। जिस समय की यह बात है, उन दिनों मैं पढ रहा था। लेकिन उसके बाद किसी से सुना था कि उनकी मृत्यु बड़ी भयानक और दुःखदायी हुई थी। पर इस समय उन बातों की चर्चा व्यर्थ है।"

कथन के साथ वे पुनः गुरुदेव की ओर देखने लगे। उन्होंने स्पष्ट लक्ष्य किया कि उनके पलक हिल रहे हैं। फिर क्षण भर के बाद उनके होंठ भी हिलने लगे। डॉक्टर का ध्यान तो उनकी ओर स्थिर था ही, चेतना भी बराबर मनोयोग के साथ उनकी गतिविधि का अध्ययन कर रही थी।

इसी क्षण गुरुदेव कुछ बुदबुदाने लगे। उस भाषा में वाक्य पूरे नहीं बन पाते थे। बीच-बीच में कोई खण्ड-वाक्य या तो पूरा-का-पूरा छूट जाता, अथवा धुंधला होकर अत्यन्त अस्पष्ट हो उठता। लिपि की सामर्थ्य नहीं कि वह उनको अपनी सीमाओं में ग्रहण कर सके; और भाषा में शक्ति नहीं कि वह उनको सार्थक बना सके। रह गया अनुमान, सो उनके लिए व्याख्याता स्वतंत्र है कि चाहे जो अर्थ लगा ले। वे कह रहे थे—

"न···इया। ी श्वास···ता। ी···मा···ता।"

चेतना कुछ नहीं समझ सकी। डॉक्टर साहब ने पेंसिल से स्वर अंकित कर लिये। देखते-देखते उन्होंने मस्तक पर हाथ रख लिया।

इस बीच में एक बार गुरुदेव फिर कुछ बुदबुदाये और डॉक्टर का ध्यान पुनः उनकी ओर खिंच गया। चेतना के जी में आया —वह बाहर जाकर देखे कि सत्य आया या नहीं। जोधा द्वार पर खड़ा था। उसी ओर वह एक बार देखने लगी। वह पिता को इस दशा में छोड़कर वहाँ से हटना नहीं चाहती थी। फिर जोधा भीतर आ गया। उसके पीछे सिसकियाँ भरती हुई गोपी की माँ। आते ही उन्होंने गुरुदेव के पैरों पर अपना सिर रख कर आँसुओं की कुछ बूंद गिरा दिये।

डाक्टर ने बिगड़ते हुए कहा—"यह सब क्या है जोधा?

यहाँ तुमने महाप्राण को क्यों आने दिया ? इसे बाहर ले जाओ और किसी को भीतर मत आने दो ।"

डाक्टर का कथन सुनकर गौरी की माँ सिसकती हुई बाहर चली गयी और वहाँ और भी अधिक जोर से रो पड़ीं ।

डाक्टर साहब की दृष्टि एक बार ऊपर आकृष्ट हुई । उन्होंने चेतना की ओर भी देखा । चेतना नाना आशंकाओं से भर गयी । डाक्टर पेंसिल से नोट की हुई स्वर-लिपि का पुनः अध्ययन करने लगे ।

इसी समय सत्य शीशी में मिक्श्चर लिए हुए आ पहुँचा और उसके पीछे प्रेरणा । चेतना यह देखकर अवाक् रह गयी कि प्रेरणा भी उसके साथ गयी थी । उसे इतना भी ध्यान नहीं रहा कि यह कब उसके पास से हट गयी । उसने प्रेरणा की भाव-भंगिमा को अध्ययन करने की चेष्टा की, पर उसे सफलता नहीं मिली । केवल एक बात पर उसका ध्यान आकृष्ट हो गया । वह यह कि सत्य के बायें स्कन्ध पर काजल का एक धब्बा पड़ा हुआ है । और प्रेरणा को आँखों में काजल भर लेने का मर्ज है ।

उस रात गुरुदेव सचेत न हो सके । डाक्टर के आने पर उन्हें ज्वर न था । केवल श्वास ऊर्ध्वगति से चल रहा था । पर इंजक्शन देने और मिक्श्चर पिलाने का प्रभाव यह हुआ कि उन्हें ज्वर आ गया । रात को बारह बजे के लगभग डाक्टर तिवारी चले गये । इस बीच में उनके बहनोई, प्राध्यापक इन्द्रनाथ उन्हें देखने के लिए आये, और दो घंटे तक बैठे रहे । उनके साथ उनकी पत्नी साधना थी और प्रतिभा ।

यह प्रतिभा चेतना की चचेरी बहिन है और अपनी बुआ साधना के साथ रहती है ।-और भी बहुत से लोग यहाँ आते-

जाते बने रहे। गुरुदेव ने हानि तो जीवन में किसी को कभी पहुँचाई न थी। किसी का कोई काम कभी अटक गया, हो सका तो उसको उन्होंने लाभ भले ही पहुँचाया था। यदि कभी वे उसे लाभ न भी पहुँचा सके, तो उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया—'यह मेरे सिद्धान्त के विरुद्ध है। अपने लिए भी—यदि मैं ऐसी परिस्थिति में पड़ जाऊँ तो—ऐसा कुछ मैं नहीं कर सकता।' फलतः काम न पूरा होने की दशा में भी वह उनसे प्रभावित हो कर ही गया।

इस भांति उस दिन उनसे मिलने-जुलने और उन पर श्रद्धा रखने वाले लोगों का ताँता बँधा रहा।

प्राध्यापक इन्द्रनाथ चलते हुए बोले—"अगर आवश्यकता हो तो मैं भी बना रहूँ।"

साधना कहने लगी—"तुम कैसे रहोगे ? यों भी तुम्हारा जी ठीक नहीं है। दूसरे, तुमको कल कालेज भी जाना है। रात के जागरण से कहीं तुम्हारी तबियत न खराब हो जाय! तुम जाओ, मैं तो यहाँ रहूँगी ही।"

इसी समय प्रतिभा बोल उठी—"मैं भी यहीं रहूँगी फूफा जी। आप जाइये। वहाँ मुन्नू अकेला कैसे रहेगा?"

चेतना की स्थिति ऐसी न थी कि वह कुछ कह सकती। हाँ, यह जानकर उसे अवश्य संतोष हुआ कि उसकी बुआ साधना और बहन प्रतिभा रात को उसके यहाँ ठहर रही हैं। उसकी आँखें डबडबाई हुई थीं। बारम्बार वह बुआ और फूफा से यही प्रश्न करती थी—"क्या बाबू की तबियत अब अच्छी न होगी?" प्रश्न के साथ उसका कण्ठ भर आता और आँखों से अश्रु टपकने

लगते। कभी वह बुआ की गोद में अपना सिर रख देती, कभी फूफा के कन्धे से जा लगती।

इन्द्रनाथ जब छड़ी उठाकर चलने लगे, तो चेतना द्वार तक साथ आकर रो पड़ी। इन्द्रनाथ उसे समझाने लगे—"चिन्ता की कोई बात नहीं है बेटी! सवेरे कालेज जाते हुए हम इधर से होकर जायँगे। और जरूरत पड़ने पर तो मैं तुरन्त चला आऊँगा। सत्यप्रकाश यहाँ रहेगा ही। वह हम लोगों के लिए सब तरह से विश्वसनीय और एक योग्यतम सहायक है।"

इस प्रकार वहाँ उस रात प्रेरणा, साधना, प्रतिभा और सत्य सभी ठहर गये। हाल में से कुर्सियाँ और टेबिल खसका-कर एक ओर कर दिये गये। उनके स्थान पर दो पलँग बिछा दिये गये, जिन पर साधना, प्रतिभा और चेतना कभी लेट रहती, कभी उठ-कर बैठ जाती। जहाँ गुरुदेव का पलँग पडा हुआ था, उससे कुछ फासले पर एक परदा डाल दिया गया। जोधा ने दरवाजे पर बोरा डाल लिया और वह किवाड़ से पीठ लगाकर बैठ रहा। सत्य की कुरसी गुरुदेव के पलँग के निकट थी। वह चुपचाप बैठा हुआ समय पर दवा पिलाता जा रहा था। घड़ी की सुइयों पर उसकी दृष्टि बार-बार चली जाती थी। कभी-कभी जब गुरुदेव कुछ बुदबुदा उठते, तो वह ध्यान से सुनने लगता। इसके लिए उसे प्रायः गुरुदेव के अत्यन्त निकट जाकर उनके मुख से निकलते हुए शब्द सुनने पड़ते। आभास पाकर कभी चेतना भी पास आ जाती। प्रारम्भ में तो साधना और प्रतिभा भी पीछे-पीछे जा लगती थी। परन्तु यह क्रम थोड़ी ही देर तक स्थिर रह सका। ज्यों-ज्यों रात भीगती गई, त्यों-त्यों विश्राम की भूख ने उनको इस तत्परता और जिज्ञासा से मुक्त कर दिया।

सत्य गुरुदेव से बहुत प्रभावित था। वह उन्हें विचारक और महात्मा की कोटि का व्यक्ति मानने लगा था। आज तक उसे जीवन में ऐसा कोई व्यक्ति नही मिला था, जिसको वह अपने हृदय की इतनी अधिक श्रद्धा का पात्र मान सकता। वह सोचता था कि ऐसे व्यक्ति ससार में बहुत कम होते है, जो जीवन-सत्य की खोज के लिए बड़ा-से-बड़ा कष्ट सहर्ष स्वीकार कर लेते हो। वह यह भी सोचता था कि ऐसे व्यक्तियों की सख्या तो संसार में और भी कम है, जो स्वयं कष्ट सहकर दूसरो को कष्टो के जाल से मुक्त करने मे ही अपना समस्त जीवन उत्सर्ग कर देते है। इसलिए उसकी यह आन्तरिक कामना थी कि चाहे जैसे भी हो, गुरुदेव को स्वस्थ होना ही चाहिये।

परन्तु गुरुदेव के स्वास्थ्य की कामना उसके लिए केवल इसी कारण न थी। वास्तव मे वह उन कारणो को भी जानने के लिए उत्सुक हो रहा था, जिन्होने ऐसे महापुरुष के जीवन को दुःखमय बनाया था। उसे वारम्वार उनके इन शब्दो का स्मरण हो आता था—'उसकी आत्मा को शान्ति चाहे मिल भी जाय; पर मेरी आत्मा...अः!"

वह सोचता था कि गुरुदेव यदि इस वाक्य को पूरा कर पाते, तो कदाचित् आगे उसका रूप यह होता—'पर मेरी आत्मा को शान्ति कैसे मिल सकती है!'

तव सहज ही प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि गुरुदेव की आत्मा को शान्ति मिलने की सम्भावना क्यो नहीं है? और नहीं है तो उसका आधार क्या हो सकता है? क्या उनसे कोई ऐसा दुष्कृत्य हो गया है, जो अक्षम्य है? सुनता हूँ, चेतना की माँ ने आत्मघात करके अपना शरीर त्याग किया था। उनको जिन कारणो से

आत्मघात करना पड़ा, क्या उनके मूल में निर्विवाद रूप से गुरुदेव का हाथ था?

वह बारम्बार अपने आप से पूछता—"क्या गुरुदेव से ऐसा होना सम्भव है?"

ऐसे अवसर पर उनके प्रति उसके हृदय की सचित श्रद्धा उत्तर दे उठती—'ऐसा कोई अपराध उनसे हो नही सकता।' किन्तु मनुष्य के जीवन मे श्रद्धा से भी बड़ी एक वस्तु होती है सत्य का अनुसधान। उसी अनुसंधान के लिए पूर्ण रूप से तत्पर सत्य तथा श्रद्धा की सीमा लांघकर सोचने लगता—'मनुष्य के लिए सब सम्भव है। भ्रमवश वह क्या नही कर सकता!"

सारी परिस्थितियों पर विचार करके अन्त में सत्य इसी निष्कर्ष पर पहुँच रहा था कि इन दशाओं में गुरुदेव का स्वस्थ होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि उनको कुछ अन्यथा हो गया, तो एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन ही सदा के लिए अपूर्ण रह जायगा। इस लिए गुरुदेव के प्रति व्यक्तिगत श्रद्धा के मोह की अपेक्षा उसका मन एक ऐसे संकल्प से भर गया, मानव सभ्यता के कल्याण के लिए अनन्त काल और अनन्त जीवन तक जिसका सम्बन्ध जा पहुँचता था। तब वह कर्तव्य की समस्त सीमाओं से अपने आपको विजड़ित-सा अनुभव करने लगा। वह सोचने लगा कि मुझको चाहे जितना कष्ट मिले, चाहे जितनी असुविधा मुझे हो, व्यक्तिगत रुचियों और मान्यताओं का चाहे जितना मोह मुझे त्याग करना पड़े, किन्तु गुरुदेव जैसे महापुरुष का जीवन सुरक्षित बना रहे।

जब रात के ग्यारह बजने का समय हुआ तब यकायक साधना को स्मरण हो आया—हम लोग तो घर से भोजन करके आये है, पर चेतना और सत्य अभी तक भूखे ही है। तब वह गोपी की माँ के पास जा पहुँची। आज वह अपने घर नही गयी थी।

गोपी की माँ ने सायकाल का भोजन नही बनाया था। हाँ, दूध निस्संदेह एक मिट्टी के बर्तन में मन्द आँच से गरम बना हुआ था। रसोई के आगे चटाई डाले वह लेटी हुई थी। किसी के उधर आने का आहट पाकर वह उठकर बैठ गयी। बिजली की बत्ती, अभी तक जल रही थी। फिर भी चेतना के पास आते ही पहचान गयी। बोली—"आओ बेटी! कहो, सरकार की कैसी तबियत है?"

साधना बोली—"तबियत का हाल अभी कुछ कहा नहीं जा सकता। वैसी ही हालत है। हाँ, यह तो बतलाओ कि चेतना को खाने के लिए कुछ बनाया है?"

"कहती क्या हो बेटी!" गोपी की माँ अत्यन्त विस्मय के साथ बोली—"ऐसे समय कहीं खाना बनाने का होश मुझे रह सकता है! फिर खाना मैं बनाऊँ किसके लिए! लल्ली ने तो आज सबेरे भी यों ही जरा-सा मुँह जुठार लिया था। खाना वह नहीं खा सकी थी। सरकार का अधपेट उठ जाना उससे सहा नही गया। क्या उसने सारा हाल तुमको बतलाया नहीं?"

"बतलाया है।" साधना बोली—"लेकिन बिना कुछ खाये आदमी सेवा-उपचार का काम नहीं कर सकता। फिर सत्य भी

तो भूखा है। उसके खाने का कुछ-न-कुछ प्रवन्ध हमको करना ही चाहिए। और जब चेतना ने सबेरे भी भरपेट भोजन नहीं किया, तब इस समय तो उसे खाना खिलाना बहुत आवश्यक हो गया है।"

तब गोपी की माँ खड़ी होकर बोली—"अच्छी बात है। तुम जोधा को जरा यहाँ भेज दो। मैं अभी आधे घंटे में खाना तैयार किये देती हूँ।"

थोड़ी देर बाद जब गोपी की माँ ने माली के द्वारा खाना बन जाने की सूचना दी, तो साधना सत्य के निकट जाकर बोली—"चलो बेटा, खाना तो खालो। तब तक मैं यहाँ बैठती हूँ।"

सत्य उस समय दैनन्दिनी में कुछ लिख रहा था। यकायक अचकचाते हुए बोल उठा—"खाना ?···हाँ, खाना। लेकिन मुझे आवश्यकता नही है। गुरुदेव को इस दशा में छोड़कर मैं कहीं जा नही सकता।"

साधना बोली—"ऐसी क्या बात है ? मैं तब तक बैठी जो रहूँगी।"

सत्य ने उत्तर दिया—"ऐसी ही बात है माँ ! मैं यहाँ से उठ नही सकता। तुम मेरा खाना यहीं भिजवा दो।"

चेतना चारपाई पर तकिये के सहारे औंधे मुंह लेटी हुई थी। अपने सामने उसे अन्धकार-ही-अन्धकार देख पड़ता था।

उसे स्मरण हो आया कि इसी बँगले में एक दिन उसके बाबा, आजी, चचेरी बहिन, चाची तथा भतीजे रहते थे। सारे घर में एक कोलाहल सा मचा रहता था। पर न जाने क्यों, न जाने किन पापों के कारण, एक ऐसा दिन भी आनेवाला है, जब इसमें रहने-वाला कोई न होगा। अपने दान-पत्र के अनुसार, बाबू सारी

सम्पत्ति एक ट्रस्ट को सौंप जायेंगे, जो उसका उपयोग सार्वजनिक हितों के लिए करेगा। बाबू का यह दान उनके आदर्श के अनुरूप उचित ही है। किन्तु आज यदि मेरे एक भाई होता!

'फिर बाबू को आज जो आन्तरिक आघात पहुँचा है, कौन जानता है, उसका आधार क्या है? सुनती हूँ; माँ के देहान्त के अवसर पर बाबू ने उनका अग्नि-संस्कार करने से इनकार कर दिया था। इतने दिन बीत गये, आज तक कोई बतला ही न सका कि बाबू ने माँ के साथ ऐसा दुर्व्यवहार क्यों किया?—उस मृतक के साथ—जिसका उनके जीवन से अटूट सम्बन्ध था!'

चेतना सत्य के सम्बन्ध में सोच रही थी।—बाबू को समय पर दवा पिलाने, उनकी नाना चेष्टाओं को समझने, उनके मनोभावों की थाह लेने, उनका कष्ट दूर करने और उनके क्षण-क्षण के साथ अपनी समस्त चेतना और कर्तव्य-निष्ठा का निरन्तर अर्घ्यदान करते जाने में उनका भला क्या स्वार्थ हो सकता है!

प्रतिभा एक वर्ष चेतना से बड़ी है। वह उसी पलँग पर लेटी हुई थी, जिस पर चेतना थी। साधना के यह कहने पर कि खाना तैयार हो गया, वह बोली—"चेतना, चेतना!"

पहले उसने कन्धा पकड़कर उसे उठना चाहा। पर जब चेतना न उठी, उठना दूर रहा, उसने कोई उत्तर तक न दिया, तब वह कहने लगी—"चलो, खाना खालो। गोपी की माँ कहती थी, तुमने सबेरे भी यों ही टाल दिया था। चलो उठो तो। तुम्हें हमारी सौगन्ध!"

तब तक साधना भी उसके निकट आ पहुँची। बोली—"हाँ बेटी उठो, खाना खालो। बड़े भैया की तबियत सम्हल जायगी। डॉक्टर कह गये हैं—ऐसी कोई विशेष चिन्ता की बात नहीं है।"

चेतना उठकर बैठ गयी। यद्यपि उसका सिर भारी हो रहा था। भूख के मारे उसकी आँतें तो कुलबुला ही रही थीं, उसका मानस भी अत्यन्त अशान्त था। बारम्बार वह सोचती; अपने आपसे भीतर-ही-भीतर पूछती; निराश अनाश्रित-सी हो-होकर सृष्टि की प्रत्येक वस्तु से पूछना चाहती—'यह ससार क्यों इतना अधिक दु.खमय है ?'

महराजिन ने सत्य के खाने की थाली उसके पास लगा दी। जबसे उसको इस स्थान से भगा दिया गया था, तब से वह फिर इधर आयी न थी। इस समय चेतना के निकट जाकर अवसर पाकर बोली—"थोड़ा-सा खा लो लल्ली! दोपहर को भी तो अधखाये उठ आयी थी।"

पर गोपी की माँ का इस समय निकट खडा हो जाना चेतना को सहन न हुआ। आज दोपहर को उसने जिस ढँग से बातचीत की थी, उसकी छान-बीन वह बराबर मन-ही-मन करती आ रही थी। धीरे-धीरे उसे विश्वास-सा हो गया था कि हो न हो, माँ के आत्मघात के साथ इसका कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य है। आज-तक इसने इस विषय की कुछ भी चर्चा नहीं की; और चर्चा करने का प्रसंग उपस्थित होने पर भी यह जो भुस पर लीप रही है, उसका कोई कारण अवश्य है। और कदाचित् वह कारण यही है कि माँ के जीवन को बलपूर्वक मृत्यु के घाट उतारने मे इसका थोड़ा-बहुत हाथ अवश्य रहा है।

इस छान-बीन का यह परिणाम हुआ कि चेतना मन-ही-मन गोपी की माँ से घृणा करने लगी। अतएव इस समय जब वह उससे खाना खाने का अनुरोध करने आ खड़ी हुई, तो उसने नीचे का होंठ दाँत से काटते हुऐ कहा—"तुमको इस कमरे मे आने के

लिए जब एक बार मना कर दिया गया, तब दुबारा तुम्हारे यहाँ आने की क्या जरूरत थी ? मुझको खाना होगा खा लूँगी, न खाना होगा, उपवास करूँगी । पर तुम्हारी हमदर्दी की मुझे जरा भी जरूरत नहीं है । समझती हो न ?"

गोपी की माँ चेतना से इस तरह के व्यवहार की आशा नहीं करती थी । उसका दावा था कि उसकी असली माँ मर भले ही गयी हों, पर उस माँ का अधिकार अगर कोई चीज है, तो वह मुझे प्राप्त है । बचपन से अबतक वह मेरे ही हाथों पर रही, खेली और इतनी बड़ी हुई है । इसलिए चेतना की बात की पैनी नोक उसके कलेजे में छुरी की तरह चुभ गयी । उसने यह विचार नहीं किया कि यहाँ एक इतना बड़ा व्यक्ति, शैया पर चुपचाप लेटा हुआ, मृत्यु से जीवन की लड़ाई लड़ रहा है । उसने यह भी नहीं सोचा कि साधना, प्रतिभा और थोड़े अन्तर से बैठा हुआ सत्य क्या कहेगा ! वह बोली—"समझती क्यों नहीं हूँ ? समझती न होती तो आज तुमको मुझे इस तरह दुरदुराने का मौका ही क्यों मिलता ? सरकार की तबियत बिगड़ने पर तो यह हालत है ! कहीं उनको कुछ हो गया, तब तो मैं झाड़ू मारकर निकाल दी जाऊँगी !"

साधना विस्मय से अभिभूत हो उठी । प्रतिभा उसे देखती रह गयी । जोधा बोल उठा—"यह सब बे-कायदा बे-फिजूल क्या बक रही हो महराजिन ! जाओ जाओ, अपना काम देखो !"

सत्य के कान उधर ही लगे थे । महराजिन की बात सुनकर उसके मुँह का कौर तक अन्दर-ही-अन्दर जहाँ-का-तहाँ रुक गया ।

साधना यह तो जानती थी कि महाराजिन को यहाँ काम करते एक युग बीत गया । इस कारण वह उत्तर देने में अधिक ढीठ हो गयी है । पर उसके मन में इस प्रसंग को लेकर कहीं कोई

खोट भी है, इसकी कल्पना उसने नहीं की थी। इसलिए उसकी यह बात सुनकर वह हक्की-बक्की रह गयी। उसने सोचा, यह समय ऐसा नहीं कि इस विषय में कुछ कहा-सुनी की जाय। अत-एव गोपी की माँ को संकेत से बाहर ले जाकर उसने उत्तर दिया—"तुम जानती हो महाराजिन कि यहाँ जोर से बातचीत करने के लिए डाक्टर तिवारी मना कर गये है। फिर भी तुमने इस बात का विचार नहीं किया। और चेतना को मैं क्या कहूँ! उसका हाल तो तुम देख ही रही हो। जो भी हो; हम लोगों को इस समय ऐसी कोई बात नहीं करनी चाहिये, जिससे किसी का जी दुखे और बात बढ़े।"

गोपी की माँ रुँधे हुए गले से बोली—"मुझको बात बढ़ाने से क्या मतलब है! भगवान करे, सरकार अच्छे हो जायँ! उसके बाद मैं खुद यहाँ से चली जाऊँगी। जिसने मुँह चीरा है, वह खाने को भी देगा।" और कथन के साथ वह फिर रसोईघर के द्वार पर जा बैठी।

सत्य गुरुदेव के पास से टस-से-मस नहीं हुआ। वहीं बैठे-बैठे उसने खाना खा लिया और झट वहाँ से थोड़ा हट कर एक ओर आचमन भी कर आया। जब उसने खाना नहीं खाया था तब, और जब प्रारम्भ कर रहा था, तब भी, बराबर वह चेतना की बातचीत पर कान लगाये हुए था। उसे अच्छी तरह पता चल गया था कि उसने न तो दोपहर का ही भोजन ठीक तरह से ग्रहण किया, न वह इस समय इसके लिए राजी हुई। तब यकायक एक विचार उसके मन में आया कि मुझसे अधिक—और पहिले—भोजन करने का अधिकार तो उसी का है! उसको बिना

खाना खिलाये, बिना उसकी परवा किये, मैं झट खाना खाने बैठ गया। एक बार उसको पूछा तक नहीं।

संयोग से महाराजिन को विदा करके साधना सत्य के पास होकर जो अपनी खाट की ओर आने लगी, तो सत्य ने धीरे से पूछा—"क्या बात थी ? कुछ-कुछ आभास तो मैं पा गया; लेकिन पूरी बात नहीं समझ सका।"

मन्द स्वर में साधना बोली—"आज महाराजिन की बातचीत से चेतना दोपहर से ही कुछ असन्तुष्ट है, और उसका असन्तुष्ट होना उचित भी है। नौकरों को अपनी हैसियत देखकर, शऊर के साथ, बात करनी चाहिये। चेतना ने इधर आकर जोर-जोर से बात करने के लिए उसको जरा डाँट दिया, तो महाराजिन ने उसी का बुरा मान लिया। बोल उठी—'अभी से यह हाल है। अगर सरकार को कुछ होगया, तब तो मैं झाड़ मारकर निकाल बाहर की जाऊँगी।' अब तुम्ही से मैं पूछती हूँ, भला ऐसी बात उसे इस समय जबान पर लानी चाहिये ?"

बात सुनकर सत्य का मुंह चलना रुक गया। पानी पीकर घूंट निगलता हुआ वह बोला—"कहती क्या हो माँ ! महाराजिन ऐसा कहती थीं ?"

साधना बोली—"हाँ बेटा, उसकी यह बात सुनकर मैं तो जैसे हक्की-बक्की रह गई।"

सत्य सोचने लगा—'लेकिन इस सम्बन्ध के एक ही वाक्य से हम लोग जो कुछ समझ सके, गुरुदेव जीवन भर उससे अवगत न हुए हों, यह सम्भव नहीं है। तब यही निष्कर्ष निकलता है कि शिशु की भाँति अपने स्वभाव की अनुपम सरलता और रत्नाकर

की भाँति जीवन की एकरस अगाधता के कारण गुरुदेव ने सब प्रकार के भक्तों और श्रद्धालुओं की मानरक्षा की है।'

सत्य को विचार-मन्थन में लीन देखकर साधना जब उसके पास से चलने लगी, तो इतना और बोली—"जाती हूँ। चेतना को भी समझा-बुझाकर खाना खिलाना है।"

सत्य बोला—"जरूर-जरूर! न माने तो कृपया यहाँ भेज दीजिये। मैं समझा दूंगा।"

जब साधना चली गयी, तब सत्य के मन में यकायक एक नया विचार आ गया। वह सोचने लगा—'कर्त्तव्य के क्षण मैं कभी यह नहीं सोचूंगा कि दुनिया क्या समझेगी। क्योंकि प्रत्येक क्षण उलटा-सीधा अर्थ लगाना दुनिया का पेशा हो गया है!'

आज इस समय यहाँ सत्य जो जिम्मेदारी ले बैठा है, उसके बीच में केवल चौबीस घंटे का इतिहास है। कल विश्व-विद्यालय की हिन्दी-समिति में वाद-विवाद-प्रतियोगिता थी। वहाँ प्रसंगवश चेतना से उसका परिचय हो गया। भूल से वह, लौटते समय अपनी गाड़ी में बैठने के भ्रम में बैठ गया चेतना की गाड़ी में। जब उसे अपनी भूल का ज्ञान हुआ तब वह उठकर आने लगा, तो चेतना ने उसे साथ चलने को विवश कर दिया। वह उसे अपने पिता के यहाँ ले आयी। और बस गुरुदेव के व्यक्तित्व ने उसे आत्मसात् कर लिया।

किन्तु इसी अवधि में और भी तो बहुत कुछ हो चुका है; इस अवसर पर कभी-कभी सत्य को उसका भी स्मरण हो आता है।

गुरुदेव के इस बँगले से लौटकर जब वह अपने घर पहुँचा, तो उसने देखा—मन्मथ की गाड़ी दरवाजे पर खड़ी है। जब वह मकान के अन्दर जाने लगा, तब उसने यह भी देखा कि मन्मथ बाहर जा रहा है। सरदी के दिन ठहरे। चेस्टर और नाइट-कैप में उसका व्यक्तित्व दूर से ही अपने प्रभाव का आतंक स्थापित कर लेता है। खैर, इधर मन्मथ गाड़ी में बैठकर चलता बना, उधर सत्य अपने कमरे की ओर बढ़ा। ज्ञान उस समय आगत-स्वागत में लगा हुआ था। क्योंकि पुत्र-जन्म के उपलक्ष्य में पड़ोसियों, इष्ट-मित्रों तथा आत्मीय स्वजनों की दावतें दूसरे दिन से ही बराबर चल रही थी। ज्ञान ने उसे जो सामने से जाते देखा, तो अन्दर से ही पुकारा—"अरे सत्तू, जरा सुनना।"

तब सत्य ज्ञान के कमरे में जा पहुँचा।

ज्ञान ने पूछा—"कहाँ से आ रहे हो ?"

सत्य ने कह दिया—"विश्व-विद्यालय से। इस समय वहाँ एक सभा थी और मुझे उसमें भाग लेना था। क्या कोई काम…?"

ज्ञान कुछ उपालम्भ के स्वर में बोला—"काम की फिक्र अब हुई है! खैर जाओ, अन्दर देखो। दद्दा आये हैं। मैं तो यहाँ और लोगों के स्वागत में लगा हूँ। तुम जरा उनका खयाल रखना।"

सत्य यह जानकर प्रसन्नता से पुलकित हो उठा कि उसके पिता जी आये हैं; माँ भी जरूर होंगी और साथ में होंगे ब्रह्म और शक्ति। लेकिन 'देखता हूँ काम की फिक्र अब हुई है। खैर…' इस कथन का क्या अर्थ होता है, यही सोचता हुआ सत्य अन्दर जा पहुँचा, जहाँ वेद ब्रह्म से कह रहा था—"राशन का जमाना

है बेटा, राशन का ! कोई चीज छोड़ना नहीं।" और ब्रह्म मुसकराता हुआ तोतली भाषा में उत्तर दे रहा था—"अत्था !"

सत्य ने सबसे पहले वेद और करुणा को प्रणाम कर इसी ब्रह्म को गोद में भर कर उसकी चुम्मी ली। फिर प्रश्न किया—"मुझे भूल गया ?"

शक्ति सत्य के पैरों से लिपट गयी। बोली—"भैया, घर नहीं चलोगे ?"

सत्य ने कह दिया—"तुझे भी लेता हूँ अभी, जरा ठहर जा।" फिर जरा-सा-हिलाया, हृदय से चिपकाया और ब्रह्म से कह दिया—"नही भूला न ? हाँ, भूलना नही मुझे। अच्छा !"

वेद और करुणा दोनो सिहर उठे। सत्य ने ब्रह्म को पूर्ववत् पलंग पर बैठा दिया। अब उसने शक्ति को गोद मे लेकर उसकी चुम्मी ली। शक्ति ने तर्जनी दिखलाते हुए पूछा—"पहले यह बतलाओ मुझे, तुम घर कब आओगे ?"

सत्य ने जवाब दिया—"जब तू बुलायेगी।" फिर वह मुसकराने लगा।

करुणा से पूछा—"कहो माँ, अच्छी तो हो ?" फिर इमरती का एक टुकड़ा उसने अपने हाथ से ब्रह्म को खिला दिया।

करुणा की आँखें भर आयी। पर उसने कुछ कहा नही। फिर दरवाजे की ओर देखती और कुछ पास आती हुई कहने लगी—"थोड़ी देर के लिए कल घर आ जाना। वही पर सब बातें होंगी। यहाँ ठीक नहीं। दीवारों के भी कान होते हैं।"

सत्य समझ गया। बोला—"अच्छा, विश्वविद्यालय से लौटता हुआ आ जाऊँगा।"

अब सत्य वेद के पास बैठ गया। बोला—"पिताजी आप

प्रसन्न तो हैं न ? कथन के साथ वह शक्ति की ठुड्डी पर चिपकी दाल-मोठ अँगुली से हटाने लगा।

वेद हँसते-हँसते बोला—"प्रसन्नता किसी की कभी स्थायी तो होती नहीं सत्तू! क्योंकि लक्ष्मी की तरह, नित्य चार घर झाँक आने पर ही, उसे चैन मिलती है। हां, इतना मैं कह सकता हूँ कि मुझे कोई शिकायत नही है किसी से।"

सत्य के मुँह से निकल गया—"मैं आप से ऐसे ही उत्तर की आशा करता था पिताजी!" फिर झट माँ के पास जाकर बैठ गया। बोला—"अब यह बताओ कि तुमको खाने को क्या लाऊँ?"

करुणा हँस पड़ीं। फिर वेद की ओर देखती और संकेत-भाषा में कुछ बतलाती हुई-सी बोली—"देखा?" फिर सत्य के कन्धे पर हाथ रखकर कहने लगी—"तू जहाँ रहे, सुखी रहे—तो मुझे किसी चीज की कमी नहीं है सत्तू!"

सत्य बोला—"सो सब माना। पर यह बतलाओ—खाने को क्या लाऊँ?"

करुणा बोली—"अभी-अभी खाकर उठी हूँ।"

तब सत्य ने पूछा—"और चखने को?"

करुणा हँसने लगी। बोली—"तेरा बचपना नहीं गया रे सत्तू!"

सत्य के मुंह से निकल गया—"जीवन में एक ही बार मनुष्य को सुख मिलता है और वह मिलता है बचपन में। पर अब तो वह भी हिरन हो गया माँ! रह कहाँ गया बचपन मुझमें?" फिर उठकर खड़ा हो गया और धरातल से लेकर छाती तक की नाप का एक साथ संकेत करता हुआ बोला—"इतनी पुस्तकें चाटनी

पड़ती हैं।......आगे की सम्भावनाएँ तो और भी अधिक हैं। खैर; कुछ तो चखना ही पड़ेगा। नही तो चाचाजी कहेंगे—खातिर नही की।"

तब करुणा के मुँह से निकल गया—"तो मेरी खातिरदारी के लिए तुझको भेजा है ज्ञानू ने?"

कुछ मुंह बनाता हुआ सत्य बोला—"और क्या? लेकिन यह भी कितना अच्छा है कि मुझे, यानी कि मुझे, तुम्हारी—यानी कि अपनी माँ की—खातिरदारी के लिए नियुक्त किया गया है! जिससे कम-से-कम इस वक्त तो मैं यह सोचने का अवसर पाऊँ कि मैं अब तुम्हारा वह नन्हा-मुन्ना सत्तू नहीं; मैं तो अब सेठ ज्ञानप्रकाश का सुपुत्र श्रीमान् सत्यप्रकाश हूँ!"

इसी क्षण बेद बोल उठा—"इस तरह की बातें मत सोचा कर सत्तू! इससे संसार का दु:ख बढता ही जायगा। कम कभी न होगा। *जीवन की बहुतेरी गतिविधियाँ केवल अनुभव करके* टाल देने की वस्तु हुआ करती हैं। कह देने से तो वे संक्रामक रोग की तरह फैलती हैं।"

सत्य बोला—"यह कल तक की मान्यता थी पिता जी! आज तो मनुष्य वह भी कह डालना चाहता है, जो उसके जीवन में कभी सम्भव नहीं होता। केवल कल्पना का प्रमाद है वह। और प्रमाद को मन के भीतर पालने की अपेक्षा निकाल डालना ही ठीक है। है कि नही पिताजी?"

बेद मुसकराने लगा। बोला—"बड़ा बातूनी हो गया है तू! अच्छा जा, तू भी खाना-वाना खा। हम अब जायेंगे।"

सत्य ने आश्चर्य से पूछा—"जाइयेगा? इतनी जल्दी!"

करुणा बोली—"तेरे चाचा कहते थे कि इन्तजाम तो कुछ

ऐसा करना चाहता था कि दो-चार दिन सबको यहाँ रखता भी। पर राशन की दिक्कत के कारण····! इसके सिवा यहां जगह भी उतनी नही कि सभी एक साथ ठहर सकें। इसीलिए फिर··।"

अब सत्य से न रहा गया। बोला—"अच्छा, तो मतलब यह कि एक रात ठहरने के बाद सबेरे ही कहीं आप लोग धरना न दे बैठें, इसकी भूमिका मूल आख्यान के पहले ही सुनाई जा चुकी है। खूब!"

तब वेद ने गम्भीर होकर कह दिया—"यह सब तू क्या बके जा रहा है सत्तू! कम-से-कम इतना तो ख्याल रखा कर कि जीवन का प्रकृत धर्म जितना स्वाभाविक होता है, उतना ही वीभत्स भी। उसकी नग्नता पर बार-बार बहस करना सत्य की मीमासा नही, व्याख्या भी नही, उस चीर-फाड के समान है, जो हत्या के बाद केवल अपराध की गुरुता का रहस्योद्‌घाटन करने के लिए हुआ करती है। समझे?"

तब सत्य कुछ सोचता हुआ चुपचाप उस कमरे से बाहर हो गया। लेकिन थोडा आगे वह बढ़ा ही था कि देखता है, ज्ञान चुपचाप एक कोने में खड़ा-खड़ा सब कुछ सुनकर एक ओर चल दिया है!

दस

साधना ने चेतना के पास जाते ही कह दिया कि "मेरे कहने से तू खाना खा नही रही थी । पर अब सत्य ने कहा है—न माने, तो चेतना को यहाँ ले आना, मैं समझा दूंगा ।"

सुनकर चेतना सकुचित हो उठी। मन मे आया कि कह दे—'समझा चुके !'

पर वह ऐसा कुछ बोली नही । तब प्रतिभा कहने लगी—"मैं अभी यही बात इससे कह रही थी ।"

चेतना ने फिर इस विषय मे और कुछ नही कहा । वह पलँग से उठ खड़ी हुई । प्रतिभा ने भी साथ दिया ।

रसोईघर की ओर जाती हुई, थोड़ी रुककर, चेतना बोली—"पर एक शर्त है बुआ ।"

साधना ने उत्तर दिया—"शर्त-वर्त मैं अब कुछ नहीं मानूंगी। आदमी पर चाहे जितना दुःख पड़ जाय, भोजन उसे करना ही पड़ता है । भाभी का देहान्त हुए अभी चार दिन भी नही हुए, लेकिन जिस दिन तार आया, उस दिन भी यह पापी पेट अपनी ज्वाला बुझाये बिना शान्त नही हुआ ।"

तब तीनों रसोईघर जा पहुँ साधना बोली—"मैं इसे पोट-फुसलाकर ले आयी हूँ महाराजिन ! बस, झट से खाना परोस तो दो ।"

महाराजिन ने तुरन्त खाना परोस दिया । चेतना चुपचाप खाना खाने बैठ गयी । साथ देने के लिए प्रतिभा को भी कुछ टूंगने को विवश होना पड़ा । अधखायी होती-होती चेतना बोल

उठी—"लेकिन महाराजिन, मेरे कहने का तुम कभी बुरा नहीं मानती थी। आज क्या बात हो गयी, जो···?"

महाराजिन ने रुद्ध कण्ठ से उत्तर दिया—"मेरी बुद्धि ठिकाने नहीं है बेटी! इस घर का बहुत कुछ सुख-दुःख भोगे बैठी हूँ। और अधिक भोगने का बल इस सरीर मे अब रह नही गया। क्या कहना चाहिये, क्या नहो, कब मुझे बोलने की जरूरत है, कब चुप रहने की, इसको समझ-बूझकर मुँह खोलने के लिए हम गरीब नौकरी-पेसा लोगों पर जो एक आंकुस रहता है, वह सरकार तक ने कभी मुझ पर नही रखा। सदा चुपचाप या थोड़ा-सा हँसकर ही वे मेरी बातें सुनकर टाल देते रहे हैं। पर अब तुम पढ़-लिखकर सयानी हो गयी हो। मुझे पगली-दिवानी जो चाहो सो समझकर हँस सकती हो। मेरे आगे तुम पैदा हुई, मेरी गोद मे ही रो-रोकर तुमने सोना सीखा। जब तुम्हारी माँ का विछोह हो गया, तब तुम दो बरस की थी। तुम्हारा पालन करने में मैंने किस काम से मुँह मोड़ा? तब ये (साधना) बेटी भी तो यही रहती थीं। इनसे पूछ देखो न! मतलब यह है कि तुम्हारे कहने का अगर मुझे बुरा भी लगता है, तो इस हैसियत से नही कि मैं महराजिन हूँ, बल्कि इस हैसियत से कि मैंने तुमको पाला-पोसा है, मैं तुम्हारी माँ के समान हूँ।"

अन्तिम शब्द कहते हुए महराजिन धोती से अपनी आँखें पोंछने लगीं।

इतने में साधना बोल उठी—"यह तुम ठीक कहती हो महराजिन! इसमे राई-रत्ती भर अन्तर नही है। बल्कि मैं तो यहाँ तक कह सकती हूँ कि तुम अगर न होती, तो चेतना का अस्तित्व आज इस संसार में होता, इसमें भी सन्देह है। ज्येष्ठ

मास लगते ही इसके शरीर भर में इतनी अधिक फुंसियाँ फूट निकलती थीं कि कपड़े पहनाना दुष्कर हो जाता था। नित्य नहलाना-धुलाना, दवा लगाना, कपड़े साफ करना—रात-दिन सेवा में ही तो बीतता था। उस पर दोबार समय पर भोजन बनाकर खिलाना अलग। नौकर होने का भाव रखनेवाला कोई आदमी भला इतना काम कर सकता है!"

महाराजिन अब कुछ आश्वस्त हुई। चौके से बाहर आकर साधना के पैरों की रज मस्तक पर लगाती हुई बोल उठी—"बस बेटी, तुमने मेरी लाज रख ली।" और कथन के पश्चात् आँसू पोंछने लगी।

आचमन के बाद जब तीनों पुनः रसोईघर से लौटने लगीं, तो जोधा से बिना बोले रहा नहीं गया। जान पड़ता है, वह पास ही कहीं खड़ा-खड़ा सारी बातें सुनता हुआ हुक्का गुड़गुड़ा रहा था। इन लोगों को पुस्तकालय की ओर जाते देख झट से दौड़ आया। हुक्का अब भी उसके हाथ में था। उसे एक पेड़ के तने के सहारे रखकर हाथ जोड़ता हुआ बोल उठा—"अब, एक बात मेरी भी सुन लो बड़ी बेटी!"

तीनों रुक गयीं। साधना बोली—"कहो।"

दुबला-पतला शरीर, नंगा बदन, गाँठों से ऊपर चढ़ी हुई मारकीन की मैली-चीकट धोती। बढ़ी हुई दाढ़ी। मुँह पर जमी हुई धूल का पसीना खाया हुआ एक पर्त।···साधना लम्बाई में कम है, चौड़ाई में कुछ अधिक। बात धीरे से कहने और फिर भी अपना पूरा प्रभाव जमा लेने के भाव से, लम्बा होने के कारण थोड़ा झुककर दाढ़ी की नोक को ऊपर उठाकर जोधा कहने लगा—"चेतना बेटी को पाला-पोसा, सो ठीक। उसके लिए दिन-रात

खपती रही; सो भी ठीक। पर हर महीने दस सेर चीनी और पांच सेर घी जो चुपचाप पोटरी मे दबाकर ले जाती रही, सो ? सरकार ठहरे देवता। कभी शिकायत भी हुई, तो सदा यही कह देते रहे—उसका है इसलिये ले जाती है। पर मैं कहता हूँ—है यह पूरी चुड़ैल ! इसी के कारण मांजी ने जहर खा लिया था।"

जोधा की बात सुनकर सभी सन्न रह गये। तब चलती हुई साधना बोली—"जाने दो। इन बातो में अब क्या रखा है ! भैया अच्छे हो जायँ, तो यही सब आगे भी चलता रहे, मैं कुछ न कहूँगी।"

उत्तर से जोधा को संतोष नही हुआ। बोला—"हूँ, जाने दूँ। सरकार अच्छे हो जायँ, तब देखूंगा। झोटा पकड़कर जो बाहर न निकाल दिया, तो मैं जात का अहीर नही।"

चेतना की समझ में कुछ-कुछ आ रहा था। वह सोच रही थी—'हो न हो, माँ को बाबू पर सन्देह हो गया था। महराजिन भी तब जवान रही होगी। रूप-रेखा खिलती हुई। आज भी जितनी उमर है, उसके विचार से···!'

प्रतिभा का दायाँ हाथ चेतना के कन्धे पर था। उठाकर बुआ की बात पर अपना अभिमत प्रकट करती हुई बोली—"एक महराजिन की बात नहीं है। घर-घर सभी नौकरों का यही हाल है। नौकरी में जो गिनी कौड़ियाँ मिलती हैं, जब उनसे आदमी का पेट नहीं पलता, तृप्ति नहीं होती, तभी वह चोरी, छल-प्रपंच और बेईमानी करने लगता है।"

चेतना पहले ही से भरी हुई थी। बोली—"गलत बात है। जब तक आदमी पागल नहीं हो जाता, तब तक प्यासा चाहे जितना हो, सड़क की नाली का पानी कभी नहीं पीता।"

चेतना आगे भी कहना चाहती थी—'यदि कहा जाय, दोनों परिस्थितियों में अन्तर है। चोरी या छल से संचित पैसा नाली का पानी कैसे होगा ! एक लोगों की आँखों में धूल झोंककर मिलता है, दूसरा खुले खजाने। पर बात ऐसी नहीं है। दूसरों की आँखों में धूल झोंकने से पूर्व पहले वह स्वयं अपनी आँखों में धूल झोंक लेता है। दृष्टि की हीनता तो उसमें आ ही जाती है। यही स्थिति उस आदमी की होती है, जो नाली का पानी पीने लगता है। ज्ञान कहो या दृष्टि, चाहे जो कह लो; नष्ट तो उसका सब कुछ हो ही जाता है।' पर वह कुछ बोली नहीं। उसका ध्यान एकमात्र पिता पर केन्द्रित था। वह सोचती थी—महराजिन चाहे जितनी लूट मचाती रहें, पर बाबू अच्छे हो जायें !

साधना जब सत्य का संदेशा लेकर चेतना के पास चली गयी थी तब से अब तक सत्य बराबर यही सोचता रहा—'मैंने माँजी से क्यों ऐसी बात कही ? मुझे इन बातों से क्या मतलब है ? क्या मैं दुनिया-भर की लड़कियों को मनाने के लिए पैदा हुआ हूँ ? मेरे मन में इन लोगों के प्रति कभी-कभी यह जो आकर्षण, मोह और लालच उत्पन्न होता है, मेरे जैसे विस्तृत कार्य-क्षेत्र रखनेवाले व्यक्ति के लिए क्या वह एक बाधा नहीं है ?'

रात का समय था। एक बज रहा था। दिन-भर की भूख की मारी चेतना ने जब भोजन किया, तो यकायक उसे आलस्य ने घेर लिया। पलँग पर आकर वह जैसे ही लेटी, वैसे ही उसको एक झपकी लग गयी।

साधना लौटकर सीधे सत्य के पास चली गयी। बोली—"अच्छा हो, आप एक नींद ले लें। भैया के पास तब तक मैं बैठी रहूँगी। हम लोगों को जीवन में ऐसे अवसर अनेक बार मिलते

हैं, जब पलक मूँदे बिना सूर्योदय देखना पड़ता है। तीन-तीन रात बिना सोये, लगातार काम में लगे रहने का अवसर तो स्वयं मुझे कई बार मिल चुका है। मानती हूँ, आप भी सेवा में बहुत तत्पर हैं। भैया धन्य हैं, जो उन्होंने आप जैसा कर्मठ भक्त पाया है। पर मनुष्य की शक्ति की एक सीमा है। जब इस आशंका से देखूँगी कि कर्तव्य की अबाध धारा में तैरते-तैरते आप कहीं इतने अधिक शिथिल न हो जायँ कि आगे बढ़ने की अपेक्षा डुबकियाँ खाने लगें, तब हम लोगों को आपकी रक्षा के लिए तुरन्त कूद पड़ना होगा। अतः आप से भी मेरी विनय है कि आप एक नींद ले लें।"

सत्य के होठों पर एक मन्द मुसकराहट आ गयी। एक वाक्य में उसने उत्तर दे दिया—"ऐसा नहीं हो सकता।"

निद्रा की गोद में पूरी तरह चेतना अभी आयी नहीं थी। पलक उसके झपक ही रहे थे कि उसने सुन लिया—बुआ के कथन के उत्तर में सत्य ने एक वाक्य कह दिया है—"ऐसा नहीं हो सकता।" तब कर्तव्य की पुकार से उसका रोआँ-रोआँ कम्पित हो उठा। किसी दिन उसने कहीं सुना था—'रात को जगना हो, तो कॉफी के दो प्याले पी ले।' इस समय उसे इसी का खयाल हो आया। प्रश्न उठा, 'लेकिन इस घर में कॉफी कहाँ! हाँ, इस घर में कॉफी आती कैसे? बाबू तो चाय तक नहीं पीते। लेकिन कभी-कभी जब चाय पीनेवाले मित्र आ जाते हैं तब उनको पिलाने के लिए चाय घर में रहती तो है। तो क्या इनके मिलनेवालों में···?'

यकायक साधना पलँग पर से उठकर गुरुदेव के पास दौड़

गयी। प्रतिभा ने दो बार चेतना का कन्धा हिलाते हुए कहा—"चेतना ! चेतना ! अरी कुछ सुनती है ?"

चेतना वास्तव, में सुन रही थी कि स्पष्ट शब्दों में बाबू कह रहे हैं।—"मैंने अपराध नहीं किया। मैंने अपराध नहीं किया। मैं नहीं मानता, नहीं मानता कि मैंने कोई···।" और इसके पश्चात् एक चिर विराम।

इतने में वहीं से साधना बोल उठी—"भैया बोले ! ··"

वह चट से उठकर उनके पास आ पहुँची और कहने लगी—"खैर, भैया बोले तो ! हे भगवान्, तू ही रक्षक है !"

आकाश में सारसों की जोड़ी उड़ती हुई कहीं जा रही थी। यकायक उसका स्वर भी सत्य के कानों में पहुँच गया। बात की बात में वह कुरसी से उठकर खड़ा हो गया। इस समय उसके मुख की शोभा दर्शनीय हो रही थी। प्रसन्नता से दवा की शीशी उठाकर उसकी एक खुराक उसने गुरुदेव को पिला दी। तदनन्तर मस्तक का पसीना पोंछते और फिर पेंट की बेल्ट को ऊपर की ओर खिसकाते हुए वह बोल उठा—"यों, है तो सभी कुछ भगवान् के हाथ में, किन्तु अब मुझे विश्वास हो रहा है कि गुरुदेव का जीवन सुरक्षित है।"

साधना और प्रतिभा के पीछे-पीछे चेतना भी पास आ गयी थी। इसी बीच उसने दाईं ओर देखा, जोधा दरवाजे के किवाड़ से पीठ लगाये ऊँघ रहा है। तब उसका सिर हिलाती हुई वह बोली—जोधा ! जोधा !"

यकायक जोधा चौंक पड़ा। दूसरी पुकार का उत्तर देते हुए बोला—"हाँ बेटी ! कोई हुकुम ?"

चेतना बोली—"महराजिन से कहो कि मैंने याद किया है।"

तीन मिनट में महराजिन सामने खड़ी थी। चेतना उसके पास जाकर धीरे-धीरे कुछ कहने लगी।

आशा के मृदुल झकोरों के साथ साधना, प्रतिभा, फिर चेतना पुनः अपने पलँगों पर आ गयी। अभी दस मिनट भी न बीते होंगे कि निद्रा के कोमल अंक-पाश में साधना और प्रतिभा दोनों की दोनों निबद्ध हो गयीं।

सत्य गुरुदेव के पलँग के पास चुपचाप बैठा हुआ सोच रहा था—'केवल मेरा इतना कहना चेतना को भोजन के लिए तैयार करने में काम कर गया कि न मानें तो यहाँ ले आना। मैं समझा दूँगा।'

दस मिनट और हुए होंगे, चेतना चुपचाप उठी और रसोईघर की ओर चल दी। थोड़ी देर में जब वह वापस आयी, तो आहट पाकर किसी आशंका से सत्य ने पूछा—

"कौन?"

चेतना ने पलँग पर से ही उत्तर दिया—"मैं हूँ चेतना।"

इसी समय एक ट्रे में प्याला, सासर, चम्मच, चीनी, दूध और कॉफी भरा हुआ गड़ुआ लेकर महराजिन सत्य के सामने जा पहुँचीं।

सत्य ने विस्मय से पूछा—"यह क्या ले आयी हो महराजिन?"

महराजिन ने उत्तर दिया—"कॉफी भिजवाई है लल्ली ने। कहा है—चुपचाप पी लें, बहस न करें।"

जिस छोटी टेबिल पर, अभी थोड़ी देर पहले, सत्य के लिए महराजिन ने भोजन की थाली रखी थी, उसी पर उसने कॉफी की ट्रे रख दी।

सत्य एक मिनट तक चुप रहा। फिर कुछ सोचता हुआ बोला —"अच्छा, तुम जाओ। हम पी लेंगे।"

महराजिन चली गयी।

जोधा उसी द्वार पर पैर फैलाकर सो रहा था। साधना और प्रतिभा भी खर्राटे भर रही थी। सत्य ने गुरुदेव का तापमान लिया। प्रोफेसर इन्द्रनाथ के जाने के समय वह एक सौ तीन के लगभग था। पर इस समय एक सौ एक दशमलव पाँच पर आ गया था।

कुछ क्षण और वीते। सत्य के मन में आया—इस तरह स्वर साधकर कि चेतना सुनले, साथ ही साधना और प्रतिभा यदि जग रही हों, तो यह न समझें कि यह कोई संकेत है—कहदे— 'यह पेय क्या अकेले पीने के लिए है ?'

किन्तु वह कुछ बोला नही। उसे चेतना के कथन मे एक ऐसा माधुर्य्य प्रतीत होने लगा, जैसा उसने जीवन मे कहीं नही पाया था।—अभी थोड़ी देर पहले मैंने उसके लिए कहा था—'न मानें तो मेरे यहाँ ले आना, मैं समझा दूंगा।' फलत. ऐसा नही हुआ कि उसने न माना हो। उसे मेरे यहाँ आने और फिर उसे समझाने की आवश्यकता नही पड़ी और मुझे जगने मे सुविधा देने के विचार से उसने, थोडी ही देर वाद, मेरे लिए कॉफी भिजवा दी। सम्भव है, मुझे कॉफी पीने का अभ्यास न हो, इस कारण मैं इनकार कर बैठूं। कदाचित् इसीलिए उसने आदेश दिया है—'चुपचाप पी लें—वहस न करें; खूब !

रात कुछ अधिक भीग रही है। मनुष्य गम्भीर निद्रा में निमग्न हैं। जिनका शरीर श्रान्त और मन क्लान्त है, वे सबके सब सो रहे हैं; किन्तु यह चेतना क्यो नही सो रही ? यह ठीक है कि

उसके पिता का जीवन संकट में है। ऐसे समय उसे नींद कैसे आ सकती है ! किन्तु ऐसे अवसर पर इसको मेरा ध्यान क्यों आ रहा है—मेरी सुविधा का विचार वह क्यों कर रही है ? फिर इस भाँति ध्यान रखना और विचार करना यदि इस अर्थ में हो कि वह उस कर्तव्य में मुझे सहायता पहुँचा रही है, जिसका सम्बन्ध उसके पिता की जीवन-रक्षा से है; तो इसमें भी कोई विशेष बात नहीं है। पर यह आदेशात्मक अधिकार और साहस इसके भीतर कैसे उत्पन्न हो गया ? क्या यह सब एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के प्रति हृदय-दान नहीं है ?

कॉफी की ट्रे अभी तक ज्यों-की-त्यों रखी है। कहीं किंचित् खटका नहीं हुआ। महाराजिन को गये कुछ मिनट तो हो ही गये। सत्य ने कॉफी ढालकर पी ली है या नहीं, चेतना यह जान लेना चाहती है। महराजिन को विदा करने के लिए उन्होंने कहा था—'अच्छा, अब तुम जाओ। हम पी लेंगे।' फिर भी क्या अब तक उन्होंने प्याले में कॉफी ढाली नहीं ? न पीना चाहते, तो स्पष्ट उत्तर दे सकते थे—'मैं कॉफी नहीं पीता।' पर ऐसा कुछ न कहकर कहा उन्होंने यह कि 'अच्छा, अब तुम जाओ। हम पी लेंगे।' तात्पर्य यह कि अब इसी समय—तुम्हारे सामने —नहीं पियेंगे। तुम चली जाओ। प्रतीक्षा में खड़ी न रहो। जब चाहेंगे तब पी लेंगे—पीते रहेंगे। यह सब क्या इसलिए कि कॉफी इस समय काफी गरम है; जरा ठण्डी हो जाय, तब पियेंगे ? अथवा इसलिए कि इस सम्बन्ध हमें अभी कुछ विचार करना है ?

चेतना के मन में आया कि वह उठकर जरा इधर-उधर टहले, जरा देख आये कि बाबू की तबियत कैसी है ? लेकिन जब बाबू अचेत पड़े हैं, बुआ और बहिन पड़ी-सो रही हैं, जोधा खर्राटे ले

रहा है, तब उधर जाना, जहाँ सत्य बैठा है, कहाँ तक उचित होगा ?

इस समय क्षणभर के लिए उसे ख्याल आ गया मन्मथ का। 'ऐसी परिस्थिति में यदि वह होता, तो ?' उसे स्मरण ही आया, अभी अधिक दिन नहीं बीते। गाड़ी में एक साथ जाते समय उसने मेरे बाहु को स्पर्श करने की धृष्टता की थी। एक कुत्सा मन्मथ के प्रति उसके भीतर फैल गयी। वह सोचने लगी—'वह कुत्ता ऐसी परिस्थिति मे भी अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा करता है !'

उसका यह सोचना था कि यही अपराध वह अपने ऊपर आरोपित कर बैठी। उसने अपने लिए कह डाला—'क्या तू स्वयं ऐसी परिस्थिति से अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा नहीं कर रही ? सत्य को इस समय कॉफी भिजवाने के प्रयास में क्या तेरा हृदय-दान नही है ?'

तब एक अहंकार का भाव उसके मन में आ गया। जैसे अपने को फुसलाती हुई वह अपने आप से कहने लगी—'नहीं ! हृदय-दान का इसमे कोई प्रयास नही है। यह केवल कर्तव्य-पालन है, केवल शिष्टाचार है।'

देर तक चेतना चपचाप लेटी रही। उसने निश्चय कर लिया कि वह ऐसे समय यहाँ से उठकर कही नही जायगी।

उसका शरीर अब और भी शिथिल हो रहा था।

इसी क्षण कहीं से चार बजने का स्वर सुनाई दिया। चेतना ने ऐसी अँगड़ाई ली कि उसका पैर प्रतिभा के पैर पर जा पड़ा। फलतः यकायक प्रतिभा बोली—"चेतना !"

चेतना ने उत्तर दिया—"हाँ दीदी !"

"सोयी नहीं अभी तक ?" प्रतिभा ने करवट बदलते हुए पूछा।

चेतना बोली—"हाँ, नींद नहीं आ रही।"

सत्य कॉफी पी चुका था। टेबिल पर ट्रे ज्यों-की-त्यों पड़ी हुई थी। यकायक उसे ख्याल आ गया। तब उसने उसे उठाकर जो एक ओर फर्श पर रख दिया तो सासर की कोर पर पड़ा हुआ चम्मच खिसक गया और उसका शब्द फूट निकला।

चेतना ने समझ लिया—'जान पड़ता है, उन्होंने अब कॉफी पीना समाप्त किया है, या हो सकता है कि पीने के कुछ देर बाद याद आने पर ट्रे अलग रख रहे हों।'

उधर सत्य ने सुना था, चेतना कह रही थी—हाँ, नींद नहीं आ रही। तब उसने वहीं से कह दिया—"सो जाओ चेतना। चिन्ता की कोई बात नहीं है। ईश्वर चाहेगा तो बाबू की तबियत प्रातःकाल तक ठीक हो जायगी। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि वे बिल्कुल स्वाभाविक नींद में हैं।"

सुनकर चेतना सोचने लगी—'अगर इस अवसर पर मैं कह दूँ—अच्छा-अच्छा, सुन लिया। अब आप मेरे ऊपर कृपा कीजिये। —तो ?'

साधना तो बराबर सोती रही, पर सत्य के इस कथन को सुनकर प्रतिभा और चेतना दोनों उठकर गुरुदेव को देखने के लिए उनके पास जा पहुँचीं।

प्रतिभा एक नींद ले चुकी थी। उसकी चेष्टा यथेष्ट चेतन थी। पर चेतना बनाय क्लांत थी। उसके केश बिखरे हुए थे। अब तक वह जिस मूक रूप में उसके सामने आयी थी, इस समय

वह बात नहीं जान पड़ी। अब वह केवल साधारण मांस-पिंड न होकर एक कर्त्तव्य-तत्पर महाप्राण युवती प्रतीत होती थी।

प्रतिभा निकट पहुँचते ही कहने लगी—"अच्छा भाई साहब, क्या आप निश्चयपूर्वक कह सकते है कि काका कल सवेरे उसी तरह उठेंगे, जिस तरह वे नित्य उठा करते थे? प्रातःकालीन सूर्य्य को देखकर उनके होठ मूकहास से वैसे ही रँगे हुए मिलेंगे, जैसे नित्य मिलते थे? वर्फ से धुले हुए दिवस को देखकर, नवीन जगत् की कल्पना से, जैसी प्रसन्नता उन्हें नित्य होती थी, कल के प्रभात मे भी क्या वैसी ही होगी?"

अटूट विश्वास के साथ सत्य बोल उठा—"अन्तर्यामी ही जानते है कि उनका भक्त आज जिद् पकड़ गया है। उसकी बात माने बिना काम चलेगा नही।"

यकायक पहले प्रतिभा, फिर एक साथ सत्य और चेतना की दृष्टि गुरुदेव के मुख पर जा पड़ी। चेतना ने लक्ष्य किया और प्रतिभा बोल उठी—"काका के मुख पर जरा देख तो चेतना, प्रसन्नता और मन्द हास जैसा कुछ खेलता हुआ मुझी को प्रतीत होता है, या वास्तव मे वैसा कुछ है ही?"

चेतन बोली—"बिल्कुल स्पष्ट और वास्तविक है।"

प्रतिभा तब साधना के पास जाकर उसे हिलाती हुई जगाने लगी।

प्रसन्नता के मारे सत्य की आँखो में आँसू छलछला आये। बोला—"भगवान् ने मेरा मूक संकल्प जान पड़ता है, सुन लिया है। गुरुदेव की तबियत अब बिल्कुल ठीक है। घंटे भर में सबेरा हो जायगा और मैं चाहूँगा कि आज जैसा प्रातःकाल सब को मिले!"

ग्यारह

दूसरी घटना हुई फैक्टरी के आफिस मे ।

सत्य विश्वविद्यालय से सीधा फैक्टरी को ही चला जाता था । आज भी वह नित्य की भाँति तीन बजकर चालीस मिनट पर वहाँ पहुँच गया । द्वार के अन्दर प्रवेश करते ही देखा, बाबाजी भी बैठे हैं । मन्मथ उन्हें वह रजिस्टर दिखला रहा है, जिसमें घनश्याम के भाई ने रुपये पाने के हस्ताक्षर कर रखे हैं ।

सत्य के सामने आते ही ज्ञान बोला—"अच्छा हुआ, तुम आ गये ।" फिर उन्होंने मन्मथ से कहा—"यह घनश्याम का भाई मतिराम कौन है ? उसे बुलाया जाय ।"

मन्मथ ने घण्टी पर हाथ रख दिया । चपरासी तुरन्त अन्दर आ गया और बोला—"आज्ञा श्रीमान् ?"

मन्मथ ने कहा—"देखो कहीं मतिराम बैठा होगा । उसे बुलाना तो ।"

क्षण भर बाद एक दुबला-पतला फटेहाल अधेड़ आदमी चपरासी के साथ अन्दर आ गया ।

ज्ञान ने पूछा—"तुम्हारा क्या नाम है ?"

उसने जवाब दिया—"मतिराम ।"

ज्ञान ने नोट करते हुए प्रश्न कर दिया—"बाप का नाम ?"

मतिराम कुछ सोचने लगा । मन्मथ ने उसकी तरफ देखकर कहा—"क्यों, बाप का नाम नहीं याद आता है क्या ?"

तब मतिराम ने जवाब दिया—"बाप का नाम" बाप का नाम लछमन ।"

ज्ञान ने पूछा—"जाति ?"

"अहीर।"

"जीवित है, या…?"

"जीवित है सरकार।"

"तुमको अपना जन्म-दिन मालूम है?"

"तेरह मार्च सन् २७।"

तब ज्ञान ने मन्मथ से कहा—"इसकी सर्विस बुक निकालो।"

अब मन्मथ सोच-विचार में पड़ गया। बोला—"सर्विस बुक? सर्विस बुक तो सारी-की-सारी स्टाक-रूम के बाक्स में बन्द हैं।"

उत्तर देते क्षण उसके मुख पर हवाइयाँ उड़ रही थी।

ज्ञान फिर बोला—"उसे भी निकालो।"

मन्मथ ने जवाब दिया—"ताली उसकी घर पर छूट गयी है।"

ज्ञान का प्रश्न था—"क्यों? घर पर छूट कैसे गयी?"

मन्मथ—"आते वक्त साथ ले चलने की याद नही रही।"

ज्ञान—"तालियों का गुच्छा कहाँ है?"

मन्मथ ने इधर देखा, उधर देखा। एक ड्राअर खोला। दूसरा ड्राअर खोला। इसके कागज उलटे, उसके उलटे। भाल पर से पसीना टपकने लगा। एक ड्राअर भीतर से निकल नहीं रहा था; उसको जोर से निकालने में कुरसी का हत्था उसके कोट की जेब छू गया और उससे कुछ ऐसा शब्द निकला, जैसे कोई चीज झन्न से हुई हो।

ज्ञान के मुँह से निकल गया—"अपना जेब तो जरा देखना।"

मन्मथ ने जेब में हाथ डाला, तो इनकार करने का उसे साहस न हुआ। बोला—"अरे! सचमुच!…" और उसने गुच्छा ज्ञान के सामने रख दिया।

अब ज्ञान ने घण्टी पर हाथ रख दिया। चपरासी ने तुरन्त प्रवेश करते हुए कहा—"आज्ञा श्रीमान ?"

ज्ञान ने गुच्छा उसके आगे फेंकते हुए कहा—"स्टॉक रूम से सर्विस बुकवाला बॉक्स ले आना।"

मन्मथ बोला—"उसे नहीं मिलेगा। मुझे साथ जाना पड़ेगा।"

ज्ञान के मुँह से निकल गया—"आप नहीं जा सकते। सत्य तुम जाओ।"

पर दस मिनट में जब सत्य उस बॉक्स को चपरासी के सिर पर लदवाकर ज्ञान के सामने आया, तो ज्ञान ने कह दिया—"रहने दो। अब जरूरत नहीं है।"

सत्य ने अब जो मन्मथ के मुख की ओर देखा, तो उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। अब भी मन्मथ की आँखों पर लाली छायी हुई थी, पलक अच्छी तरह सूख नहीं पाये थे।

इसके बाद ?

इसके बाद की कथा ही तो सत्य की प्रतिक्रिया का मूल कारण है।

ज्ञान जब गाड़ी की ओर बढ़ने लगा, तो मन्मथ उसकी गाड़ी के पीछे लगा था। इसलिए सत्य चाचा से कुछ नहीं कह सका। तब तत्काल उसे अपनी गाड़ी पर घर आना पड़ा।

घर आकर सत्य सीधा चाचा के ही कमरे में जा पहुँचा। बल्कि कुछ ऐसा हुआ कि आगे-आगे ज्ञान पहुँचा, पीछे-पीछे सत्य।

ज्ञान ने छड़ी खूँटी पर टाँगी ही थी कि सत्य बोला—"मुझे आप से कुछ कहना है।"

ज्ञान ने उत्तर दिया—"कहो।"

सत्य ने पूछा—"मैं यह जानना चाहता हूँ कि मन्मथनाथ ने मेरा अपमान करने की जो चेष्टा की, उस पर आप क्या करने जा रहे हैं?"

ज्ञान ने एक क्षण का विलम्ब किये बिना कह दिया—"मैंने उसे क्षमा कर दिया है।"

सत्य चुपचाप लौटकर अपने कमरे मे चला आया।

अभी सवेरा हुआ ही था कि घर की गाड़ी लिये मन्मथ आ पहुँचा। रात मे उसे गुरुदेव के अस्वस्थ होने का सामाचार मिल गया था। सबसे पहले जोधा से भेट हुई। मन्मथ ने पूछा—"बाबू जी की तबियत रात मे क्या कुछ ज्यादा खराब हो गयी थी?..."

फिर उसने देखा कि डाक्टर तिवारी बाहर निकलते हुए कह रहे हैं—"खैर, उसकी दवा मैं कर लूंगा। मूल सकट टल गया, इसे भगवान् की महती कृपा ही समझनी चाहिये।"

इसके बाद वे कार पर बैठे और चल दिये।

डाक्टर को विदा करने के बाद सत्य ने देखा, मन्मथ जोधा से बातें कर रहा है। दृष्टि उधर पड़ते ही मन्मथ ने नमस्कार किया और पूछा—"बाबूजी की कैसी तबियत है?"

सत्य ने प्रतिनमस्कार के साथ बतलाया—"तबियत यों कल से अच्छी है। जीवन के लिए जो सकट उपस्थित हो गया था, वह टल गया है। पर उनकी मानसिक स्थिति पहले से भी अधिक चिन्त्य हो गयी है।"

बात करते हुए आगे-आगे सत्य जा रहा था, पीछे-पीछे

मन्मथ। अन्दर पहुँचने पर साधना से भेंट हो गयी। मन्मथ बोला—"मैं जब सिनेमा देखकर घर जा रहा था, तब रास्ते में प्रोफ़ेसर साहब से भेंट हो गयी थी। उन्हीं के द्वारा बाबूजी के अस्वस्थ हो जाने का हाल मुझे मालूम हुआ। पर देर काफ़ी हो गयी थी, इसीलिए मैं उस समय नहीं आ सका।"

ड्राइंग रूम में ले जाकर मन्मथ को सोफ़े पर बिठलाती हुई साधना बोली—"हम लोग काफ़ी घबरा गये थे। सत्य ने तो सारी रात बैठे-बैठे बिता दी। पलक तक नहीं झपकायी। चेतना और प्रतिभा भी जागती रही। मैंने अलबत्ता एक हलकी नींद ले ली। बात यह है कि कुछ हो, रात में मुझसे जगा नहीं जाता।"

सिगरेट सुलगाता हुआ मन्मथ बोल उठा—"ऐसा ही था, तो मुझे क्यों नहीं बुला लिया?"

साधना बोली—"एक तो बुलाने की ज़रूरत नहीं समझी। दूसरे संकट पड़ने पर मित्रों या परिचित लोगों को याद कर-करके उन सब को बुलाना सम्भव भी नहीं होता। जिसको ख्याल होता है, वह सूचना पाकर स्वयं ही आ जाता है।"

मन्मथ अनुभव करने लगा कि यदि ऐसे अवसर पर वह आ जाता, तो कितना अच्छा होता!

इसी समय जोधा आकर साधना से कहने लगा—"आपको नये बाबू याद कर रहे हैं।"

"अच्छा, आती हूँ" कहती हुई साधना बोली—"जाने से पहले इन बाबू को चाय का एक कप दे जाना।"

मन्मथ बोल उठा—"जाने दीजिए। ज़रूरत नहीं है। मैं चाय पी कर ही आ रहा हूँ।"

जोधा जाने लगा तो साधना फिर बोली—"अच्छा देखो, महराजिन से कहना, पानी गरम हो तो एक कप कॉफी बना दें।"

जोधा जरा ठिठका। फिर बात सुनकर चल दिया। साधना भी चल दी। परन्तु चलती हुई वह यह भी कहती गयी—"विपत्ति जब आती है तब एक साथ आती है। बड़े भैया का यहाँ यह हाल है, उधर मझले भैया अलग विपत्ति में पड़ गये हैं; भाभी का देहान्त हो गया है। प्रतिभा तो उसी दिन जा रही थी। बहुत रोकने से रुकी है।"

आश्चर्य से मन्मथ कहने लगा—"अच्छा, यह बात है! सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ।"

अब तक चेतना और प्रतिभा के नाम मात्र इस बातचीत में सुनायी पड़ रहे है। किसी ने यह नहीं बतलाया, वे दोनों हैं कहाँ? मन्मथ बराबर यही लक्ष्य कर रहा था।

चलते समय साधना कहती गयी—"तुम यहीं बैठो, मैं अभी प्रतिभा को भेजती हूँ। चेतना देर से आयेगी। अभी उठ नहीं पायी है। पाँच बजे तो वह सोयी है।"

यह कमरा गुरुदेव के कमरे से कुछ फासले पर पड़ता है; फिर भी मन्मथ को बोध हुआ, वे जोर-जोर से बोल रहे हैं। स्वर कितना गुरुगम्भीर है! अतएव वह वहाँ बैठा न रह सका। जहाँ गुरुदेव लेटे हुए थे, उधर ही चल पड़ा। अब उनका स्वर और भी स्पष्ट होता जा रहा था। ऐसा प्रतीत होता था, एक-एक वाक्य जैसे हृदय को चीरकर निकल रहा हो।

"चेतना! चेतना! कहाँ गई चेतना? सत्य, क्या तुमने चेतना को कहीं भेजा है? क्या तुमने उसको किसी काम का आदेश दिया है? नहीं दिया, तो अच्छा किया। आज तक मैंने

उससे कोई काम नहीं लिया। क्या वह काम करने के लिए बनी है? तुमने उसकी माँ को देखा था? साधना, तुमको याद है उसकी? मैं कहता हूँ, इस संसार में कोई स्त्री उस जैसी पतिव्रता और सती-साध्वी हो नहीं सकती! बोलो, मैं झूठ कहता हूँ?"

ऐसा प्रतीत होता था, जैसे हिमालय भी मानवी दुःख-सुख अनुभव करता और कभी-कभी इसी प्रकार बोलता है।

"नहीं भैया!" साधना अत्यन्त चिन्तित, अत्यन्त खिन्न होकर बोल उठी—"तुम झूठ क्यों बोलोगे! तुम्हारी जैसी महान् आत्मा कभी झूठ बोल सकती है? भाभी वास्तव में सती थी। भगवती पार्वती और मातेश्वरी सीता के समान उनकी प्रत्येक इच्छा धर्म का आधार रखती थी। सात्विकता, शील और सौजन्य उनकी प्रकृति थी।"

गुरुदेव उठ कर बैठ गये, फिर बोले—"फिर भी मैंने उसका अविश्वास किया। मैंने उसे असती समझा। जब उसने आत्म-घात कर लिया, तब मैंने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की कि यह मेरे द्वारा मुखाग्नि की अधिकारिणी नहीं है!"

सब लोग चुपचाप खड़े थे। किसी में इतना साहस न था कि इस विषय में मुँह भी खोलता।

तब गुरुदेव स्वयं कहने लगे—"जानते हो क्यों? क्योंकि वह अत्यधिक सुन्दर थी। कैसा विचित्र उपयोग मैंने उसकी सुन्दरता का किया!"—फिर रुककर बोले—"डाक्टर मुझे देखकर करेगा क्या? क्या मुझे कोई बीमारी है, मैं उसी से पूछूंगा। यह मुझे बतलाये तो जरा। मैं पूछता हूँ, अगर कोई स्त्री अत्यधिक सुन्दर है, मुझको यह कहने का क्या अधिकार है कि वह असती है? क्या

सुन्दरता और कलुप पर्य्यायवाची शब्द हैं ? क्या राय है तुम्हारी ? बोलो, संकोच मत करो। बैठ जाओ। सोच-समझकर उत्तर दो।"

सत्य बैठना नही चाहता था; पर यह सोचकर बैठ जाना ही उसने उचित समझा कि कही गुरुदेव इसी बात के लिए जिद् न करें। बैठते क्षण वह कहने लगा—"सुन्दरता तो भगवान् की एक देन है, गुरुदेव ! रह गयी कलुप की बात, सो वह समाज की मर्यादाओं, नीतियो और उनके मन्तव्यो का एक विरोधी आचरण है, उसके नियमो को तोड़ने की क्रिया। इसके सिवा कलुप की और कोई सत्ता नही है।"

साधना और प्रतिभा बैठी थी। मन्मथ पहले एक कोने में खडा था। बाद में वह भी उन्ही के पास बैठ गया।

इसी समय चेतना आ गयी। जान पडा, अभी तुरन्त स्नान करने आयी है। नैश जागरण से आँखो की पुतलियाँ थोड़ी लाल थी। मुख से चिन्ता का भाव स्पष्ट प्रकट हो रहा था। गति में मन्दता, अंग-सौष्ठव और देह-यष्टि की कमनीयता स्थिर, शान्त-सी प्रतीत होती थी।

आते ही गुरुदेव ने उसे अपने पास बुलाते हुए कहा—"इधर आओ बेटी चेतना ! मेरे पास चली आओ। संकोच मत करो। पिता से बेटी संकोच नही किया करती !"

निकट आने पर गुरुदेव ने चेतना को अपने पास बिठा लिया। उसके सिर से लेकर पीठ तक हाथ फेरा। फिर वे कहने लगे—"कल तुम रोयी थी। सोचती थी—बाबू को क्या हो गया ! पर आज तुम देख रही हो कि मुझको कुछ भी नहीं हुआ। लेकिन अगर मैं कही चल ही दूँ, तो भी तुम रोना नही। रोना मनुष्य की हार का निकृष्टतम प्रमाण है। रोने से उस शक्ति का क्षय हो

जाता है, जो मनुष्य को वीर बनाती है। रोने का कभी कोई फल नहीं होता। संसार में किसी के रोने का कोई मूल्य नहीं है। कोई चाहे जितना रोये, पर संसार की गति में कभी कोई परिवर्तन नहीं आता। फिर कोई रोये भी क्यों? कहीं कोई नहीं है, जिसके पास आँसुओं का स्वर पहुँच सके। यदि आँसुओं का स्वर भगवान् तक पहुँच सकता, तो ब्रह्मा ने ऐसे मनुष्य की सृष्टि की होती, जो रो ही न सकता, रोने की क्रिया ही न जानता होता। प्रकृति जड़ है, सृष्टि जड़ है; संसार, समाज, यहाँ तक कि यह मनुष्य, जो चेतन कहलाता है यह भी जड़ है। मैं भी जड़ हूँ। तुम्हारी माँ ने आत्मघात किया और किया मेरे कारण। मैंने उस पर अविश्वास किया; यद्यपि मेरा वह अविश्वास भ्रमात्मक था। बाद में मुझे अपना भ्रम मालूम हुआ। परन्तु मैंने तो फिर अपने लिए कुछ किया नहीं। मैं तो अभी तक जी ही रहा हूँ! मैं जड़ नहीं तो और क्या हूँ? मैं पत्थर नहीं, तो और क्या हूँ? मैं पूछता हूँ, क्या मैं मनुष्य हूँ? साधना! प्रतिभा! सत्य! बोलो, क्या मैं मनुष्य हूँ? और तुम? तुम कौन हो?"

यह संकेत मन्मथ की ओर था। वह उठकर खड़ा हो गया। साधना बोली—"विश्वविद्यालय में पहले चेतना के साथ ये भी पढ़ते थे भैया! अब एक मिल में मैनेजर हैं। चेतना और प्रतिभा दोनों के सहपाठी···।"

गुरुदेव फिर पूछने लगे—"अच्छा तो तुम भी बतलाओ। मेरी कहानी तो तुमने सुन ही ली। अब बतलाओ तुम भी, क्या मैं मनुष्य हूँ?···कहाँ गयी गोपी की माँ? गोपी की माँ!"

जोधा झट से अन्दर दौड़ गया। महराजिन के पास जाकर बोला—"जल्दी चलो, सरकार बुला रहे हैं।"

गोपी की माँ धोती पहने थी। ऊपर चद्दर डालकर झट चलने को तत्पर हो उठी। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा, जैसे उनके पैरों पर मनो वोझ लद गया है। दो पग चलना भी दुष्कर है। वह सोचने लगी—'न जाने सरकार क्या कहें !'

जोधा बोला—"वह मनो घी और चीनी...और जौन माल पाया उसी को, चद्दर से छिपा के घर ढो ले जाना अव निकलेगा। देखता हूँ आज तुमको कौन वचाता है !"

जोधा ने इस तरह काट-कपट कभी नही किया। उसकी दशा में कभी ऐसा परिवर्तन नहो उपस्थित हुआ। उसी की जलन कभी-कभी उसमे भड़क उठती है।

महराजिन सह न सकी। बोली—"वचायेगा मेरा धर्म और कर्म। वे जो स्वर्ग मे जा पहुँची, उन्होंने भी तो शिकायत करने मे कुछ उठा नही रखा था। पर नतीजा क्या हुआ ? आज इस दुनिया में कौन है, जो इतनी सेवा-टहल करेगा, जितनी मैंने की है। किसी में हिम्मत हो तो मुँह खोलकर कहे न ! फिर, जो कुछ किया, वह उस वक्त किया, जब अपने को नौकर समझती थी। जब से मति बदली और मैंने तै कर लिया कि यह घर अब छूटेगा नही, तब से रत्ती भर चीज जो छुई हो, तो मुझे कोढ़ हो जाय ! समझे कि नही ?"

"तुम चलो तो सही," जोधा कहने लगा—"वहाँ पहुँचने पर बातें मारना भूल जायगा।"

"भूल भी जायगा, तो मैं तुमसे मदद न माँगूगी।" कहती हुई गोपी की माँ चल दी।

गुरुदेव की वाणी पर आज उनके जीवन का समस्त दुःख उतर आया है; सत्य वारम्वार यही अनुभव कर रहा है। उसका

अन्तःकरण भीतर-ही-भीतर जैसे मथा जा रहा है। वह सोचता है, उन्होंने जो कुछ सहन किया है, जो कुछ अपने मन के स्तर-स्तर में उन्होंने चिरदिन-चिरकाल से संचित कर रखा है, वही आज बाँध तोड़कर फूट पड़ा है। आत्मघात तथा शरीर-त्याग से इसका कोई सादृश्य नहीं। अपने को क्षण-मात्र में खो डालना क्या कोई प्रायश्चित है ? यह तो ऋण से, भार से, प्राप्ति की कृतज्ञता से मुक्ति पाना नहीं, उद्धार होना नहीं, वरन् मुँह छिपाना है—सबसे अधिक सस्ता और सबसे अधिक सुलभ ! यह तो कायरता-पूर्वक रण से भाग जाना है। अतः गुरुदेव ने वही किया, जो उनके जैसे न्यायशील सत्य के पुजारी को करना चाहिये था।

मन्मथ की तो जैसे सिट्टी गुम हो गयी हो। कुछ भी उसकी समझ में नहीं आ रहा था। वह चाहता था कि कुछ बोले, कुछ उत्तर दे। परन्तु वह कहे क्या, उसके पास ऐसे जटिल प्रश्न का उत्तर ही क्या है ? उसकी दृष्टि अपने चारों ओर जा रही थी। वह देखता था कि एक छोर से दूसरी छोर तक सब-के-सब मौन हैं। कोई उत्तर नहीं देता। उत्तर में यदि कहना ही चाहे तो कुछ-कुछ चेतना कह सकती है, जिसकी सिसकियाँ छाती के भीतर समा नहीं रही हैं, जिसकी मुद्रा दुःख की ही आकृति है, इस घटना से जो सबसे अधिक प्रभावित है, अथवा इस घटना का प्रभाव जिसके लिए सबसे अधिक मूल्यवान् है। प्रतिभा जो उसकी अपेक्षा कुछ प्रौढ़ भी है, वह भी एक म्लान दुःखावेग भर अपनी मुद्रा से व्यक्त कर रही है।

सत्य कभी-कभी बोल उठता है—"यह आप कह क्या रहे हैं गुरुदेव ! इस संसार में सत्य और शिव का समर्थन आपसे अधिक कर ही कौन सकता है ? पूजनीया माँ के लिए आपने जो कुछ

किया, उसे आप   कर सकते थे ! निरन्तर व्यथा की व्यथा से, एकान्त भाव-गोपन से, आत्म-मंथन की अनन्त उग्र ज्वाला से, पल-पल के अमूल्य उर-दोलन से, जो भी विष निकला उसे आप चुपचाप कण्ठगत करते गये हैं । अमृत-ही-अमृत आपने विश्व को दिया है । इन दशाओं में आप यदि मनुष्य नहीं, तो यह जगत् मनुष्य-हीन है, यह संसार वन्य जीव-जन्तुओं से पूर्ण केवल एक गहन कान्तार ।"

इसी समय गोपी की माँ चद्दर से मस्तक के अर्ध भाग तक सिर ढके हुए आ पहुँची । तब तक गुरुदेव भूल गये कि उन्होंने उसको क्यों बुलाया था । अब वे बिलकुल चुप थे । साधना ने कहा—"भैया, गोपी की माँ को आपने बुलाया था; वे आ गयीं ।"

गुरुदेव ने कोई उत्तर नहीं दिया । एक विस्मय का भाव उनकी मुद्रा से व्यक्त हो रहा था । कभी निचला होंठ फड़क उठता, कभी बाईं भौं हिल जाती । एक बार तो दृष्टि इतनी सीधी कर ली कि दोनों भौंहों में तनाव आ गया । तब सत्य संकेत से एक ओर साधना को बुलाकर धीरे-धीरे कुछ बातें करने लगा । इसके बाद वहाँ प्रभा और वत्सला आ पहुँची ।

थोड़ी देर और ठहरकर मन्मथ जाने लगा । चलते समय उसने दो मिनट तक चेतना से बातचीत करने का अवसर पा लिया था । सिगरेट का शेषांश सीढ़ी पर रखे गमले की कोर से कुचलने के बाद उसने कहा था—"इस एक दिन के अन्दर ही आप काफी दुर्बल हो गयी हैं । संकट तो है ही, उससे कौन इनकार कर सकता है ! किन्तु प्रत्येक स्थिति में एक बात हम को नहीं भूलनी चाहिए कि हमारा अपना सुख-आनन्द, विश्वास, स्वास्थ्य और जीवन हमारे सारे दुःखों से ऊपर है । मैं उपदेश देने का अधिकारी नहीं । केवल

राय दे रहा हूँ। मानना-न-मानना आपके मन की बात है। बाबू जी जिस दशा में है, वह चिन्त्य तो खैर है ही, पर ऐसी कोई बात नहीं है कि जीवन की धारा को ही वह रोक सकती हो।" ऐसी स्थिति में क्या आप कोई पिक्चर देखने नहीं चल सकतीं ? दस बजे वाला शो बड़े मजे में देखने को मिल सकता है।"

चेतना के मुँह से निकल गया—"आप यहाँ से चुपचाप चले जाइये। मैं आपकी शक्ल से नफरत करती हूँ।"

चेतना के इस कथन का मन्मथ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बल्कि वह यही सोचने लगा कि गुलाब के किसी भी फूल को टहनी सहित तोड़ने में काँटा चुभ जाना ही अधिक स्वाभाविक है।

इसी समय आ गयी प्रतिभा। निकट आते-आते उसने मन्मथ के कथन का अन्तिम भाग सुन लिया था। बोली—"आप ठीक कहते हैं मन्मथ बाबू ! काका के जीवन पर जो तात्कालिक संकट था, वह अब टल गया है। हम लोगों को अब अपने-अपने काम में लग जाना चाहिए। उस दिन माँ के देहान्त का समाचार पाकर मैं बावली हो गयी थी। किन्तु आज सोचती हूँ कि जो कुछ अनहोनी हो गयी है, जब हम उसमें अन्तर नहीं डाल सकते, तब जो होनी है, या होना चाहिए, उसमें अन्तर डालना कहाँ की बुद्धिमानी है ?"

चेतना का चित्त इतना स्थिर नहीं है कि वह अपने संकल्प की अपेक्षा किसी अन्य बात को विशेष महत्त्व दे। इसके सिवा वह यह भी जानती है कि मन्मथ के प्रत्येक कथन का वाह्यरूप जितना उचित, सुन्दर और सुखद जान पड़ता है, आन्तरिक उद्देश्य उतना ही साभिप्राय बल्कि कलुषित है।

वह बोली—"हो सकता है, आप लोगों की राय ही युक्ति-युक्त उपयोगी हो; किन्तु बाबू को इस दशा में छोड़कर···।"

वह इतना ही कह सकी। इसके पश्चात् पुनः उसकी आँखों से अश्रु टपकने लगे।

मन्मथ ने इस स्थिति की कल्पना नहीं की थी। अतएव तत्काल वह अन्यथा सोचने लगा। क्षण-भर ठहरकर उसने कह दिया— "ऐसी बात है, तो आज मैं भी उपस्थित रहूँगा। माँजी से मैंने अभी थोड़ी देर पहले कहा भी था कि रात को बाबूजी की देख-रेख के लिए मुझको क्यों नहीं बुला लिया? खैर, अब सही।" इस समय तो मैं जा रहा हूँ। पर घण्टे-डेढ़-घण्टे बाद ही नहा-धोकर मैं आ रहा हूँ। कुछ ऐसी बात है कि आप लोगों का दुःख मैं अपने से भिन्न नहीं देख पाता।"

इतने में प्रेरणा आ पहुँची और चेतना के पास पहुँचती-पहुँचती शिकायत के स्वर में बोली—"बाबू जी की तबियत इतनी खराब हो गयी और तुमने मुझको सूचना तक न दी!"

मन्मथ बोला—"सूचना तो इन्होंने मुझको भी नहीं दी।"

चेतना उपेक्षा के भाव से कोई भी उत्तर न देकर अन्दर जाने लगी। तभी मन्मथ ने प्रेरणा को कुछ ऐसा संकेत किया कि वह उसके साथ चल दी।

गुरुदेव घंटे भर तक बिल्कुल नहीं बोले। उसके पश्चात् चुप-चाप उठे और नित्यकर्म में लग गये।

साधना को यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि भैया की अब तबियत बिल्कुल ठीक है।

सत्य ने देख लिया था कि चलते समय मन्मथ, प्रतिभा और चेतना से मिलकर गया है। कई दिनों से उसके मन में यह विचार

स्थिर हो रहा है कि अस्वस्थ मनवाले व्यक्ति के साथ बातचीत में संकोच करने का प्रभाव पारस्परिक सम्बन्धों के लिए प्रायः अहित-कर होता है। अतएव उसने स्वयं चेतना के पास जाकर कहा—"गुरुदेव के मस्तिष्क में कहीं कुछ शिथिलता भले ही आ गयी हो, पर न तो उनके कथन में कोई चिन्त्य दोष है, न उनके जीवन-क्रम में। बल्कि मैं तो यहाँ तक कह सकता हूँ कि कुछ अपवादों को छोड़कर इन मनोवेगों को लेकर भी वे यदि अपने जीवन-क्रम में सावधान बने रह सकें, तो भी कोई चिन्ता की बात न होगी।"

साधना के मुख पर उल्लास झलक आया। वह बोली—"मुझे तो भगवान् की इस सृष्टि के लिए कुछ भी विचित्र नहीं लगता। कभी सोचा नहीं था, कभी मैं कल्पना भी नहीं कर सकती थी कि भैया जैसा गम्भीर और मूक महामानव भी अपने मनोभावों को इस प्रकार खुलकर व्यक्त कर सकता है।"

यह सत्य अपने शब्दों में सत्य की सीमा से परे तो नहीं जा रहा है, कभी-कभी चेतना को ऐसा भ्रम हो जाता है। प्रतिभा को ऐसा लगता है कि चेतना यथार्थ स्थिति को ग्रहण नहीं कर पाती। वह कदाचित् यह भी सोचती है कि ऐसी दशा में—सच पूछो तो—हम लोगों को विशेष चिन्ता करनी ही नहीं चाहिए। वृद्धावस्था में यदि चित्त में विकार भी आजायँ, तो अस्वाभाविक उसमें क्या है! ऐसा तो होता ही रहता है।

साधना के मन में एक दूसरा मोह भी है। वह सोचती है कि चाहे जो करना पड़े, पर ऐसे व्यक्ति को संसार में अधिक-से-अधिक काल तक रहना चाहिए; सर्वथा स्वस्थ और प्रसन्न।

प्रभा और वत्सला थोड़ी ही देर के लिए आयी थीं। ऐसे

सत्यप्रकाश ने विस्मय के साथ कह दिया—"हाँ गुरुदेव !"

गुरुदेव तब चुप रह गये। साधना की दृष्टि उन पर क्षणभर के लिए स्थिर हो गयी और वह सत्य की ओर देखने लगी। चेतना और प्रतिभा दोनों-की-दोनों सत्य के साथ आमिष पदार्थों को अनेक बार ग्रहण कर चुकी थीं। वे दोनों कभी गुरुदेव की ओर देखतीं, कभी परस्पर एक दूसरे की ओर।

सत्य ने प्रश्न कर दिया—"पर यह प्रश्न आपके मन में उठा कैसे गुरुदेव ?"

वे बोले—"इस घर में मुझसे छिपाकर कभी-कभी मांस पकाया जाता था !"

कथन के बाद वे साधना की ओर देखने लगे। उनका तात्पर्य यह था कि सम्भव है, साधना को स्मरण हो और यदि वह चाहे, तो साफ-साफ कह दे।

पर साधना उस समय पढ़ती थी। वह जब तक स्कूल से लौटती तब तक वे चिह्न तक मिटा दिये जाते थे, जिनसे इस विषय में कोई आशंका हो सकती। इसलिए उसको इसका कुछ पता नहीं चल पाता था। वह कहती भी तो कैसे और क्या कहती? उधर गुरुदेव ने जब देखा कि साधना चुप है, तो उन्होंने स्वयं बतलाया—"एक स्वामीजी उन दिनों यहाँ प्रायः आ जाते थे। वे मेरे भाई के मित्र भी थे। दोनों आमिषभोजी थे। भाई साहब के कारण ही वे आते थे। जब आते, तब दो-एक दिन ठहरते भी थे। चेतना की माँ उनको बहुत मानती थी, यहाँ तक कि उनके लिए आमिष-भोजन बनवाने में उनको कोई आपत्ति न होती थी। जबसे भाई साहब का देहान्त हो गया, तब से वे स्वामीजी भी नही आये। उनका नाम था विमलानन्द।"

भोजन चल रहा था। गोपी की माँ को बोलने का अवसर मिल गया। वे बोल उठी—"मुझे उन स्वामीजी की याद है सरकार! वे यहाँ अक्सर आते रहे हैं। पर उस वखत तक आपके घर आने का समय नहीं होता था और वे भी दो ही एक घंटे ठहरकर चले जाते थे।"

जिस समय गोपी की माँ ने यह बात कही, उस समय गुरु-देव चुप रह गये। इस बात पर उन्होंने कोई भी मत प्रकट नहीं किया। तब सत्य यह सोचने लगा कि हो-न-हो, यही बात गुरु-देव के मन में विचार की भाँति जम गयी है। उन्होंने सोचा हो कि कोई भी व्यक्ति जो मेरी अनुपस्थिति में मेरे घर आता है और मेरे आने से पूर्व चला भी जाता है, उसकी संस्कृति कितनी हीन है! फिर गुरुदेव अपने आचार-विचार में पूरे वैष्णव हैं। ऐसे व्यक्ति का आमिष-भोजी होना भी उन्हें अवश्य चिन्त्य बनाता होगा। और जिसके प्रति वे मन में इतनी घृणा रखते थे, उन्हीं से माताजी का मिलना-जुलना उन्हें भला कैसे सहन होता होगा! फिर आचार-धर्म के ऐसे परिपोषक व्यक्ति के लिए यह भी सर्वथा स्वाभाविक है कि वे प्रतिक्रिया के जाल में पड़कर माताजी से बोलना भी त्याग बैठे हों।

इसी समय अचानक जोधा वहाँ आ पहुँचा और हाथ जोड़-कर बोला—"एक बात का ख्याल मुझको भी आ रहा है सरकार!"

गुरुदेव सरल हास के साथ बोले—"किस बात का?"

जोधा सिर पर बाँधे हुए गमछे को उतारता हुआ बोला—"इस कमरे के बाहर वह जो तुलसी का पेड़ है, उसकी पौध चाहे

यह न हो; पर उसका जन्म उसी पौध के बीज से हुआ है। माँजी के गुजर जाने के बाद जब कभी वे स्वामीजी आते, तब इसी पौधे के पास खड़े रहते। एक बार उस पर चढ़ाने के लिए वे कुछ फूल भी लाये थे। और चले उस समय गये, जब आँखों के आँसू सम्हल न सके।"

जोधा की बात को जानबूझकर टालते हुए सत्य ने केवल गुरुदेव का भाव जानने के लिए पूछा—"पर विमलानन्द जैसे स्वामी थे जिन्हें मांसाहार से इतनी प्रीति थी !"

अब गुरुदेव गम्भीर हो गये। बोले—"यह कहकर तुम प्रकारान्तर से चेतना की माँ की उस श्रद्धा पर आघात कर रहे हो, जो वह उसके प्रति रखती थी। अतएव ऐसा प्रश्न करने का अधिकार मैं तुम्हें नहीं देता। हाँ, इस प्रसंग में केवल एक बात मुझे मालूम है और वह तुमको बतलाने योग्य भी है। चेतना की माँ ने ही मुझे बतलाई थी।...उस समय तो मैंने उस पर विश्वास नहीं किया था, पर आज कर सकता हूँ। उसका कहना था कि स्वामीजी ने अवसर आने पर कई ऐसे पुरुषों की जीवन रक्षा की थी, जो एक तरह से मृत्यु को प्राप्त हो गये थे। उनका कहना था कि ऐसे अवसरों का स्मरण आने पर अहंकार जो-कभी-कभी मन में आ जाता है, उसके दमन के लिए कुछ-न-कुछ करना आवश्यक है। इसीलिए खाना खा लेने के तुरन्त बाद, बिलकुल साथ-ही-साथ वे स्वेच्छापूर्वक उसका वमन भी कर डालते थे !

भोजन चल रहा था।

अब सत्य और भी विचार में पड़ गया। वह सोचने लगा कि इस समय जिस बात पर विचार करने के लिए गुरुदेव को आपत्ति

है, सम्भव है, उस समय भी, उनके लिए, वही बहुत बड़ी चिन्ता की बात हो गयी हो ! क्योंकि आज जब वे प्रायश्चित की स्थिति में हैं, तब उन्हें पत्नी की उस श्रद्धा को भी चोट पहुँचाना स्वीकार नहीं है, जो वे उन स्वामीजी के प्रति रखा करती थी। पर यदि हम माताजी की उस श्रद्धा पर विचार न करके केवल गुरुदेव की तत्कालीन मनस्थिति पर विचार करें, तो इस परिणाम पर पहुँचना सर्वथा स्वाभाविक है कि उन स्वामीजी के आचार-विचार चाहे जैसे रहे हों, पर वे कम-से-कम ऐसे अवश्य थे, जिन्हें गुरुदेव पसन्द नहीं करते थे। क्योंकि अभी उन्होंने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि इस विषय पर विचार करना प्रकारान्तर से उनकी पत्नी के आचार-विचारों की आलोचना करना है।

इसके सिवा सत्य यह भी सोचने लगा कि भोजन करने के बाद वमन करना क्या अर्थ रखता है ? भोजन तो वास्तव में स्वास्थ्य-सम्पादन के लिए किया जाता है। इसके सिवा ऐसी भी मन की स्थिति होती है कि कभी-कभी केवल स्वाद के लिए भी लोग अधिक भोजन कर लेते हैं। किन्तु भोजन के बाद उलटी कर देना न तो स्वास्थ्य-रक्षण का ध्येय प्रकट करता है—न जीवन-धारण का। तब क्या यह सम्भव नहीं कि इस प्रकार का व्यक्ति केवल स्वाद के लिए भोजन करता हो और उसकी पूर्ति हो जाने पर वमन कर डालता हो ?

इसी समय गोपी की माँ बोल उठी। कहने लगी—"हाँ सरकार ! भोजन के बाद उनको उल्टी जरूर होती थी। और मुझे अच्छी तरह ख्याल है कि जब पहली बार माँजी से भेंट हुई थी, तब तुलसी के पौधे पर सूरज भगवान को जल चढ़ाते

वक्त ही हुई थी। उसके बाद भी उनसे जब कभी उनकी भेट होती, तो तुलसी के उस पेड़ के पास ही होती। पर माता जी वहाँ ज्यादा ठहरती न थी। नमस्कार भी वे उनको दूर से ही करती थीं!"

गोपी की माँ की इस बात को सुनकर सब लोग सन्न रह गये। और तो कोई कुछ बोला नही, पर चेतना बिना बोले न रह सकी। एक तरह से उसे डाँटते हुए उसने कहा—"गोपी की माँ, तुम बीच मे क्यो बोल उठी? तुमसे तो हम लोगों में से किसी ने कोई बात पूछी न थी।"

इस पर गोपी की माँ कोई उत्तर न देकर उठकर चल दी।

जोधा सोचने लगा, कही इसी तरह मुझ पर भी डाँट न पड़ जाय, इसलिए वह भी ओट में हो गया।

लेकिन सत्य यही सोच रहा था कि जोधा और गोपी की माँ के कथनों में सारा रहस्य स्पष्ट हो जाता है। निश्चय ही वे स्वामीजी महाराज उन मातेश्वरी के तत्कालीन रूप के प्रति परमासक्त थे। और यही सन्देह गुरुदेव के मन में धीरे-धीरे दृढ़ हो गया होगा।...तो इस सम्बन्ध में अब कोई बात विचारणीय नही है।

इसी समय साधना बोल उठी—"पर एक बात कुछ कम समझ में आती है भैया! उन्होने यह क्यों नही सोचा कि उन मृतवत् प्राणियो को बचानेवाला मैं होता कौन हूँ! जिनके लिए मारना और उत्पन्न करना—इन दोनों क्रियाओं में कोई विशेष भेद नही, यह सब क्रीड़ा-कौतुक उन्हीं का तो है! मैं तो निमित्त मात्र हूँ।"

साधना की इस बात पर गुरुदेव सत्य की ओर कुछ इस

अभिप्राय से देखने लगे, मानो संकेत कर रहे हों—'बोलो, अब क्या कहते हो ? साधना के इस प्रश्न का उत्तर दे सकते हो, तो अवश्य दो।'

चेतना उत्सुकता पूर्वक सत्य की ओर देखने लगी। पिता की शारीरिक और मानसिक—दोनों प्रकार की—स्वस्थ स्थिति देखकर उसकी चिन्ता कुछ दूर हो गयी थी।

भोजन अब भी चल रहा था।

सत्य पहले तो असमंजस में पड़ गया। परन्तु फिर आप ही आप सम्हल गया। बोला—"उस निमित्त का ही तो प्रश्न है माँ ! एक तो संन्यासी अपने लिए कुछ करता नहीं; क्योंकि उसके प्रत्येक कार्य में कृष्णार्पण का भाव होता है। दूसरे व्यक्तिगत महत्व का मोह भी उसे त्याग देना होता है। यदि उसमें इतनी शक्ति आ जाती है कि वह किसी को मृत्यु के मुख में जाने से रोक ले, तो यह उसकी सिद्धि मानी जाती है। निस्सन्देह वह उसे साधना से अर्जित करता है और इसलिए उसका चाहे जब—और चाहे जिसके लिए—उपयोग कर सकता है। कौन है, जो इसमें बाधा उपस्थित करे—कौन है जिसको इसमें कोई शंका भी हो ! किन्तु एक तो वह सिद्धि केवल जगत् के कल्याण के लिए होती है, दूसरे उसका महत्व भी उसके लिए अनुभव करने की वस्तु नहीं हुआ करती। क्योंकि उसका फल भी कृष्णार्पण हो जाता है। पर 'मुझमें वह शक्ति है, मैं स्वयं वह शक्ति हूँ'—इस प्रकार का भाव यदि उसमें उत्पन्न हो उठता है, तो निमित्त का भाव नष्ट होकर अहंकार मात्र रह जाता है। क्योंकि त्यागी का धर्म है, निमित्त से विचलित न होना। उसे भगवत्कृपा या संयोग के

रूप में स्वीकार करना; क्योंकि संयोग भी अपवाद होता है। साधारण धर्म अथवा विधान वह हो नहीं सकता।"

जान पड़ा, गुरुदेव सत्य के इस कथन से प्रभावित हुए हैं। क्योंकि उसी समय वे मुस्कराते हुए कहने लगे—"इतने लघुवय में इस तरह प्रवचन देना कहाँ सीख लिया रे सत्य ?"

सत्य सकुचित हो उठा। फिर भी सहास बोला—"भगवत्-कृपा से मैं वेद-पुत्र हूँ गुरुदेव !"

इस पर चेतना, प्रतिभा और साधना सब-की-सब हँस पड़ीं।

इसी समय जोधा बाहर से भीतर आकर हाँफता हुआ कहने लगा—"मन्मथनाथ बाबू, जो आज यहाँ आये थे···।

प्रतिभा ने पूछा—"सो क्या हुआ ?"

"वत्सलाजी अभी ताँगे से अस्पताल गयी हैं। बिटिया, मुझे फाटक पर खड़ा देख बतलाती गयी कि मन्मथ की गाड़ी एक मिलिटरी-लारी से टकरा गयी। वे बुरी तरह घायल हुए हैं।"

जोधा की इस बात पर सत्य तुरन्त पानी पीकर उठ खड़ा हुआ। बोला—"मुझे जाना ही पड़ेगा गुरुदेव !"

गुरुदेव बोले—"बेखटके जाओ।"

सत्य आचमन करके चलने को तैयार हुआ ही था कि देखा, चेतना उसके साथ है।

प्रतिभा तथा साधना आश्चर्य से उधर देखने लगी।

गुरुदेव बोले—"तुम्हारा मन हो चेतना, तो तुम भी मरते क्षण उस पापी को मानवी सहानुभूति देती आओ।"

साधना ने आश्चर्य के साथ पूछा—"क्या कह रहे हो भैया ?"

निर्विकार गुरुदेव बोले—"ऐसा ही होता है साधना ! सदा

ऐसा ही होता है। हर रचना के पीछे एक संहार और हर संहरा के पीछे एक सृष्टि छिपी रहती है।"

चेतना को स्पष्ट करना पड़ा—"बाबू ठीक ही कह रहे हैं बुआ। मुझे भी कुछ ऐसा ही जान पड़ता है। प्रेरणा भी तो इधर देर से दिखलायी नहीं पड़ी। और मन्मथ कहीं पहुँचकर कुछ उपद्रव नहीं रचेगा, ऐसा तो सम्भव है नहीं।"

बारह

चेतना जब सत्य के साथ बंगले के फाटक पर आई, तो यह देखकर हैरान हो उठी कि सत्य की गाड़ी गायब है। तत्काल उसने पूछा—"तुम्हारी गाड़ी ?"

सत्य मुसकराने लगा। बोला—"गाड़ी मैंने कल ही लौटा दी थी।"

"और फिर मंगवाई भी नहीं ?"

सत्य के मुँह से निकल गया—"नहीं।"

आश्चर्य में डूबकर चेतना बोली—"यह सब क्या कह रहे हो तुम ! कुछ भी मेरी समझ में नहीं आ रहा है।"

सत्य का उत्तर था—"धीरे-धीरे सभी कुछ समझ में आ जायगा। जो बादल बरसते नहीं, वे जल्दी गगन से हटते भी नहीं।"

इतने में एक खाली ताँगा सामने गुजरता दिखायी पड़ गया। सत्य बोला—"ठहरो।"

चेतना का उत्तर था—"क्या इसी ताँगे पर चलोगे ?"

सत्य—"क्यों, क्या हुआ ?"

चेतना—"नहीं-नहीं, मैं अपनी गाड़ी जुतवाये लेती हूँ।"

सत्य से बिना बोले नहीं रहा गया। उसने कहा—"मृत्यु किसी भी क्षण की प्रतीक्षा नहीं करती चेतना ! हमको अभी इसी ताँगे पर जाना चाहिए। गाड़ी जुतवाने में विलम्ब होगा।"

तब सत्य के साथ चेतना उसी ताँगे में बैठ गयी। उस पर बैठते ही सत्य चेतना की ओर देखने लगा।

ताँगा चला जा रहा था।

चेतना बोली—"अगर मन्मथ के जीवन को कुछ हो गया, तो मुझे बड़ा दु:ख होगा।"

सत्य कहते-कहते रुक गया कि दु:ख होना सर्वथा स्वाभाविक है।

तब चेतना स्वयं आगे बढ़ गयी। बोली—"जानते हो क्यों ?"

अब सत्य के मुख पर उत्सुकता थी। वह कहने लगा—"जो कुछ जानता हूँ उससे आगे भी जानने के लिए कम अधीर नहीं हूँ। इसलिए अच्छा तो यही होगा कि तुम बतला ही दो।"

तब चेतना बोली—"उसने मेरा अपमान किया था।"

सत्य के मुँह से निकल गया—"लेकिन मेरा तो सदा यही विश्वास रहा है कि कोई भी व्यक्ति चेतना का अपमान कर नहीं सकता।"

"लेकिन मेरा किया था उसने," चेतना बोली—"यद्यपि वह

स्वयं भी कदाचित् यह न जानता था कि उसका उत्तर उसे कितना कटु मिलेगा !"

"तो यह कहो कि तुमने भी अपमान का उत्तर अपमान से ही दिया !" कहते-कहते जब सत्य का चप्पल चेतना की साड़ी से छू गया, तो उसने अपने पैर झट हटा लिये। वह बोली—"वल्कि तिरस्कार भी उसमें सम्मिलित करके। क्योंकि मेरे शब्द थे—तुम चुपचाप यहाँ से चले जाओ। मैं तुम्हारी छाया से भी घृणा करती हूँ।"

सत्य बोला—"तो यह कहो कि तुमने शंकरजी के तीसरे नेत्र का उपयोग किया।"

"इसी की आशंका है मुझे।" चेतना ने चिन्तित होकर कहा—"क्योंकि यह भी तो हो सकता है कि मेरे इन शब्दों ने अग्नि-वाण का काम किया हो और उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह इस परिणाम को प्राप्त हुआ हो !"

ताँगा चला जा रहा था।

"फुटपाथ पर जान पड़ता है, विनय चला जा रहा है"—सत्य यकायक बोल उठा।

चेतना बोली—"हाँ है तो विनय ही।"

तब तक ताँगा और आगे बढ़ आया। सत्य ने जोर से कहा—"श्रीमान विनयकुमारजी की सवारी खरामा-खरामा कहाँ—किस तरफ—चली जा रही है ?"

विनय इस जोड़ी को ताँगे में घूमता देख चकित स्वर से चिल्लाता हुआ ताँगे की ओर दौड़ा—

"अरे रुको-रुको ! तुमने कुछ सुना ?"

तो भी सत्य उसके प्रति अपना एक असीम प्यार तो रखता ही था। लेकिन सत्य मे माया की यह मनस्थिति कैसे छिपी रहती कि जानबूझकर वह उसे नही दिखलाया जा रहा है ? क्या यही सोचकर नहीं कि कहीं उसको एक प्रतिद्वन्द्वी की नजर न लग जाय ? क्या यह समझकर नही कि सत्य उसे शत्रु के रूप में ही देखेगा ?

पर उस पर यह सन्देह करना कि वह ज्ञान जैसे अपने चाचा के इस सौभाग्योदय और अपने जैसे व्यक्ति के इस खिलौने के प्रति द्वेष रखता है ! छि. !

इसी स्थल पर सत्य दुर्बल है। वह सोचता है कि कुछ भी हो, उसके चाचा को यह सोचने का पूरा अवसर है कि इस बच्चे के प्रति द्वेष—केवल द्वेष रखने के कारण वह मुझे त्यागकर चुप-चाप चला गया है।

किन्तु इसके लिए सत्य के पास केवल एक उत्तर है। वह यह कि दुनिया तो सदा, प्रत्येक परिस्थिति में, उलटा-सीधा बकती ही आयी है और बकती ही रहेगी। पर सत्कर्त्तव्य की निर्मल अबाध गंगा-धारा कभी रुकी है कि आज ही रुकेगी !

तभी सत्य ज्ञान को एक पत्र लिखने बैठ गया।

पूज्य पिताजी,

मैं आज आप से कुछ कहना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि आप उसे केवल निवेदन के रूप में ही स्वीकार करें—उसका दूसरा कोई अर्थ न लगायें।

कल भी मैंने आप से कुछ निवेदन किया था। पर मुझे पता नही था कि उसका परिणाम इतना हृदय-वेधक होगा। मुझे उस समय भी उसका ज्ञान नहीं था, जब मैंने आज आपकी फैक्टरी

के अन्दर प्रवेश किया था। किन्तु अभी मैंने आपसे जो उत्तर पाया, उससे मेरी आँखें खुल गयीं। मुझे पता चल गया कि धन, सम्पत्ति, माया और यह लक्ष्मी की ही महिमा है, जो हम सत्य पर इस सीमा तक परदा डालने की निर्लज्ज धृष्टता किया करते हैं! यह मन्मथ जो मुझे आपके समक्ष झूठा, गैर-जिम्मेदार, अपव्ययी और मूर्ख सिद्ध करना चाहता था, मैं जानना चाहता हूँ, इसमें उसका क्या अभिप्राय था? यही न कि सत्य आपके इस कुबेरालय से कान पकड़कर निकाल दिया जाय!

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि यह सब क्यों? आखिर सत्य ने उसका क्या बिगाड़ा है? वह सत्य की हत्या करने में अपने जीवन की चरम सफलता क्यों मानता है?

उत्तर स्पष्ट है।

क्योंकि वह आपका परमात्मीय है। आप फूफा हैं उसके और वह भतीजा है आपका। लेकिन क्या मैं आपसे पूछ सकता हूँ कि मुझको आपने जो दत्तक पुत्र क्यों मान रखा है, उसकी क्या स्थिति?

आप कहेंगे कि अजी बस मान ही रखा है!

तब मैं कहूँगा कि यदि केवल मान रखने भर के लिए मैं पुत्र बना हूँ, तो यह सरासर धोखा है—मक्कारी है यह! दुनिया की आँखों में धूल झोंकने के लिए और उससे पहले अपनी आँखें फोड़ डालने के लिए!

लेकिन नहीं, मैं भूल रहा हूँ। असल में मैं आपका पुत्र नहीं, केवल भतीजा हूँ। अर्थात् एक भतीजा हुआ मैं और दूसरा मन्मथ। अच्छा तो अब, क्या मैं आपसे पूछ सकता हूँ कि भाई का नाता अधिक निकटतम होता है या साले का?—हूँ, तो यह

सत्य बोला—"हाँ सुना। हम वहीं जा रहे हैं। आओ इधर आ जाओ।"

विनय आगे की ओर बैठ गया। इसी क्षण चेतना बोल उठी—"मैंने कहा—मैं भाई साहब को नमस्कार कर रही हूँ।"

और विनय का उत्तर था—"इस तरह रूखा-सूखा नमस्कार मैं नहीं लेता। इसके लिए मिठाई खिलानी पड़ती है। और सत्य, मुझे तुमसे बहुत बातें करनी हैं।"

सत्य बोला—"हम लोग जो बातें कर रहे थे, उस प्रसंग में केवल एक प्रश्नोत्तर शेष रह गया है। उसके बाद तुम हो—और तुम्हारी बातें।"

विनय के शब्द थे—"कर लो, कर लो, उस शेष को भी अशेष!"

सत्य ने पूछा—"हाँ चेतना, तुम्हारा पक्ष तो मैंने समझ लिया। पर अभी तक तुमने मूल बात नहीं बतलायी कि मन्मथ ने तुम्हारा क्या अपमान किया था?"

ताँगा तेजी से चला जा रहा था।

चेतना बोली—"जिस समय बाबूजी के प्राण संकट में थे, मेरा मन भावी आशंकाओं की भयानक विभीषिकाओं से कम्पित हो-होकर त्रस्त, पीड़ित और ध्वस्त हो उठता था। उसी समय थोड़ी देर के लिए वहाँ मन्मथ भी अपनी निर्लज्ज झलक दिखाने आया था।"

"हाँ आया था।"—सत्य बोला।

"उस समय भी अवसर निकालकर वह मुझसे कह रहा था," चेतना मन्द-मन्द हास के प्रकार में बोली—"दस बजे का शो देखने के लिए मेरे साथ चली चलो, तो मनोविनोद में थोड़ी

तबियत ही बहल जायगी। उसके पास जीवन का केवल एक दृष्टिकोण है। और वह है मस्ती !"

और सत्य का उत्तर था—"किन्तु इस विषय में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य वात यह है कि आज इस चरम नैतिक पतन को कला और सौन्दर्य-समीक्षा का रूप किस चतुरता के साथ दिया गया है !"

ताँगा हास्पिटल के अन्दर प्रवेश कर रहा था।

नियति का खेल कभी समाप्त नहीं होगा। काल का चक्र सदा वेग के साथ घूमता रहता है।

ज्ञान से टका-सा जवाव पाकर जव सत्य अपने कमरे में आया, उन्ही क्षणों की वात है।

सत्य कभी विचलित नही हुआ। यह वात दूसरी है कि कभी वह परिस्थितिवश, थोड़ी देर के लिए छिप गया हो, अथवा किन्ही आँखों को थोड़ा धूमिल प्रतीत होने लगा हो।

किन्तु उस समय वह कुछ विचलित-सा प्रतीत हुआ। वार-वार उसके मन पर एक कोमल स्वर उतरने लगता। वह यही सोचता रह जाता कि उस अवोध शिशु के प्रति मेरा यह निश्चय कही अन्याय तो नही माना जायगा !

अभी तक माया ने सत्य को उस कक्ष मेंआम न्त्रित नही किया था, जहाँ वह अपने वक्ष मे उस नवजात नन्हे-मुन्ने को लिपटाये पडी रहा करती थी। अव तक सत्य को यह देखने का अवसर ही नहीं मिला था कि उसका वह वालवन्धु—ज्ञान-पुत्र—है कैसा।

वात है ! साले का लड़का गृहणी का पक्ष रखता है। उसकी वात ही और है ! भाई फिर भी भाई मात्र ठहरा !

वहुत ठीक !

अव मैं आपसे यह पूछता हूँ कि अपराध करता है मन्मथ और उसका परिणाम होता है विनय का अपमान। यह क्या लीला है ? अव तो आपको मालूम हो गया कि विनय जो मुझ से मिलने आया करता था, मेरा सहपाठी था। उसमें ऐसा कौन-सा दोष था, जिससे उसके प्रति आपको यह सन्देह करने का अवसर मिल गया कि वह मुझसे रुपया माँग रहा था ? आप कहेंगे—अपराध फुल्लो का है, जो झूठ वोल गयी। लेकिन फुल्लो के लिए यह कोई नयी वात तो है नहीं !……मैं पूछता हूँ, उसको इस तरह का जलील झूठ वोलने का साहस कैसे हुआ ? अपने हृदय पर हाथ रखकर जरा सोचिये कि क्या इसके मूल में यह धारणा नहीं है कि वह वेचारा गरीव है ! लेकिन क्या हर एक गरीव आदमी भिखारी, असहाय और टुकड़खोर होता है ? मैं कहता हूँ—नहीं, नहीं, नहीं ! दुनिया का हर एक गरीव आप लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक सच्चा—और कहीं अधिक ईमान-दार है !

अव आइये इस लीपापोती पर, जिसको आपने 'क्षमा' के मखमल में लपेट रखा है।

आपका कहना है कि मैंने मन्मथ को क्षमा कर दिया है। प्रश्न उठता है, क्या वास्तव में यह क्षमा है ? क्षमा का जन्म होता है अन्तःकरण से ! शरीर के भीतर के उस कोने से, जहाँ आग की चिन्गारियाँ ही नहीं, आँसुओं का झरना भी बहता है। क्षमा शब्दजाल की चेरी नहीं हुआ करती। हृदय गल-गलकर

जब अपना पावन रस, आँसों का गला घोरकर, उपस्थित करता है, तब कहीं क्षमा के द्वार खुलते हैं। फिर मैं पूछता हूँ क्या बेई-मानी, धोखेबाजी और विश्वासघात जैसे अपराधों को मिटाने का एकमात्र उपाय यही क्षमा है ? यह क्षमा नही, ईश्वर की इस पवित्र रचना के साथ घोर बलात्कार है—पाप है यह। हमारा यह महादेश उन मर्यादा पुरुषोत्तम राम का देश है, जिन्होंने जगज्जननी सीता तक को क्षमा नही किया ! और आप—और आपका वर्ग—नातो, रिश्तो, मित्रों और चाटुकारों के घोर-से-घोर अपराधो को क्षमा करता है ! यह क्षमा नही, समाज के नैतिक मान को धूल मे मिलाने की एक घृणित चेष्टा है ! सत्य का अपमान है यह ! उस सत्य का, जो ब्रह्म का एक रूप है; यह सारी-की-सारी आज की मानवता जिसके पावन गोद मे पली है। आज मैं यह साफ-साफ कह देना चाहता हूँ कि हम अगर सत्य के मानों की रक्षा नही करते, तो अकेले एक हमारा ही नहीं, इस समस्त समाज और देश का भविष्य अन्ध-कार में है।

बस, इसी एक विरोध मे मैं आज यहाँ से प्रस्थान करता हूँ। मुझे आपकी यह सम्पत्ति नही चाहिये, जिसका आपने मुझे विधिवत् अधिकारी बनाया था मुझे यह भवन, वैभव, विश्राम और जीवन-शान्ति नही चाहिये, जो आपने कृपापूर्वक मुझे दे रखी थी। मुझे कुछ नही चाहिये। मैं सब छोड़ कर जा रहा हूँ !

हाँ, इस अवसर पर मैं अपने अत्यन्त प्यारे हृदयधन नन्हे-मुन्ने भाई की एक झलक देखे बिना ही चला जा रहा हूँ, इसका मुझे दुःख है और भगवान् ही जानता है कि यह दुःख मेरे जीवन मे कितना बड़ा है !

ख़ैर कोई बात नही। मेरे अनन्त आशीर्वाद उसके साथ हैं। आज तक मैंने सत्य-रक्षा के नाम पर यदि कभी एक क्षण का भी कष्ट उठाया हो, संसार की कल्याण-कामना से यदि मेरे शरीर से एक भी स्वेद-बूँद गिरा हो—और देश की हीन दशा, जन-जन की असहाय दुरवस्था और दरिद्रता के दारुण अभिशाप से पीड़ित मानव के लिए मेरी आंखो से कभी एक आँसू भी निकला हो, तो मेरा यह बालबन्धु सदा प्रसन्न, सुखी और युग-युग जीवी हो !

सदा के लिए आपका—

सत्य

तेरह

सत्य जब चेतना और विनय को लेकर कस्तूरबा-हास्पिटल के अन्दर पहुँचा, तो उसने देखा, सब काम विधिवत् चल रहा है। कई लोग इधर-से-उधर आ-जा रहे है। ऊपर से नर्सिंग-गाउन पहने हुए एक डॉक्टर स्टेथसकोप लटकाये एक कमरे के अन्दर प्रवेश कर रहे हैं। एक ओर से एक आह की आवाज आ रही है, जहाँ द्वार पर कई लोग खड़े है। दूसरी ओर स्ट्रेचर पर चुपचाप पड़ा हुआ एक मरीज चार आदमियों के हाथो पर लटका और कुछ-कुछ झूलता-सा चला जा रहा है ! आने-जानेवाले लोगो में किसी-किसी के सिर पर पट्टियाँ बँधी हैं, किसी के कन्धे, पीठ और हाथ पर। कोई लँगडा-लँगड़ाकर चल रहा है, तो कोई

बैसाखी चलाने का प्रदर्शन-सा करता प्रतीत होता है। किसी का शरीर इतना जीर्ण-जर्जर है कि उसकी ओर एक वार देख लेने से ही हृदय दहल उठता है, तो कहीं-कहीं ऐसे भी दृश्य दिखाई पड़ जाते हैं जहाँ मरीज चारपाई पर पड़ा जीवन के अन्तिम दिन तो अवश्य पूरे कर रहा है; पर जिह्वा उसकी इतनी तेज चल रही है कि सिंगर-स्यूइंग मशीन की सुई क्या चलेगी ! कहीं पुरुष तो किसी स्त्री से प्रार्थना करता है कि "चलो, अब घर चलें। दवा हो चुकी; जो कुछ बाकी रह गई है, वह घर पर हो जायगी।" पर स्त्री उसे झिड़क कर कह देती है—"जाओ-जाओ, दूकान से कोई गाहक न वापस चला जाय !" और इसके बाद ही उसे खाँसी आ जाती है !

सत्य सभी ओर घूम आया; पर मन्मथ किस कमरे में मृत्यु की घड़ियाँ गिन रहा है, इसका कहीं पता न चला।

विनय बोला—"किसी अन्य हास्पिटल में तो नहीं गया है ?"

चेतना बोली—"जोषा ने तो इसी का नाम लिया था।"

इसी समय वत्सला दौड़ी-दौड़ी आ पहुँची और हाँफती हुई बोली—"मैं तो अब तक लौट भी जाती। सिर्फ आप लोगों की प्रतीक्षा में इधर-से-उधर चक्कर काट रही थी। श्रीमान मन्मथनाथ जी का पता कहीं चला नहीं। इसके सिवा एक बात और है।"

इतना कहकर वह चेतना के गले में हाथ डालकर उसे एकान्त में ले गयी। चेतना ने धीरे से पूछा—"कोई खास बात है क्या ?"

आश्चर्य, हास और चुहल के-से भाव से वत्सला बोली—

"मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि दुर्घटना हो जाने का समाचार फैलाकर ये महानुभाव इलाहाबाद से बाहर कहीं दूर देश को चले गये हैं।"

"लेकिन इस आशंका का कोई आधार तो होना चाहिये।" चेतना ने कहा।

"आधार बड़ा भयानक है।" वत्सला ने चेतना के कान के पास मुँह ले जाकर कह दिया—"मैं जब ताँगे पर चली आ रही थी, तब जी० आई० पी० मेल जा रहा था। उसी में, अब मुझे विश्वास-सा हो रहा है, मैंने फर्स्टक्लास के डिब्बे में प्रेरणा को खड़ा हुआ देखा था। उसके पास ही मन्मथ महाशय भी थे। पर मेरी ओर उनकी पीठ थी। इस कारण मैं उन्हें अच्छी तरह देख नहीं पायी। लेकिन कोट उनका वही था, जो वे सिनेमावाले दिन पहनकर आये थे। ऊनी अमेरिकन सर्जवाला, जिसका रंग स्लेटी है।"

सत्य और विनय ने दोनों की बातें सुनी। हँसता हुआ विनय बोला—"चलो, नाटक का अन्त अच्छा हुआ।"

लेकिन सत्य कुछ सोचने लगा।

चेतना ने पूछा—"रात को दवा लेने के लिए प्रेरणा तुम्हारे साथ भी तो चली आयी थी।"

सत्य ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"चली जरूर आयी थी, पर चली नहीं कोई बात उसकी मुझसे।"

इस पर वत्सला, चेतना और विनय—सबके सब हँस पड़े।

जब सब लोग लौटने लगे, तो विनय बोला—"चलो, अब आज लगे हाथों, बजाय शोक-प्रस्ताव पास करने के हर्ष और बधाई का ही प्रस्ताव हम लोग पास कर डालें!"

वत्सला बोली—"अवश्य, अवश्य !"

तांगा तै करते समय विनय ने सत्य से प्रश्न कर दिया—"लेकिन एक बात मेरी समझ में नहीं आयी कि चाचाजी का रुख आज कुछ बदला हुआ क्यों है ? और सरकार गाड़ी क्यों साथ नहीं लाये ?"

तांगा चलने के बाद सत्य ने संक्षेप में चाचा को लिखे पत्र की सारी कथा कह सुनायी।

इस पर नाना प्रकार की टीका-टिप्पणियाँ होने लगी।

वत्सला बोली—"मिस्टर सत्य, आप बुरा न मानें तो एक बात कहूँ।"

सत्य ने हँस कर उत्तर दिया—"बुरा भी मानूं, तो आपको एक के बजाय एक लाख एक बातें कहने का अधिकार मैं चेतना से बिना पूछे दे सकता हूँ।"

वत्सला संकुचित हो उठी। बोली—"लीजिये, अब तो आप मुझे भी बनाने लगे।"

चेतना भला क्यों न बोलती ! उसने भी कह दिया—"और मेरे चुटकी जो काटली, सो !"

विनय के मुंह से निकल गया—"ऐसा मत कहो दीदी ! मेरा सत्य गंगा की तरह वह पवित्र निर्मल धारा है।"

सत्य बीच में ही बोल उठा—"जो गन्दे नालों तक को ऐसे हजम कर जाता है, जैसे जीरे का जल हो ! क्यों ?"

"अच्छा जाने दो," विनय बोला—अब यह बतलाओ, भविष्य के लिए तुमने सोचा क्या है ?"

सत्य बोला—"गली-गली की खाक छानना, दर-दर मारे-मारे फिरना और चिल्लाते-चिल्लाते गला पड़ जाने पर कभी

पेप्स की गोलियाँ मुँह में डालकर चारपाई तोड़ना और कभी बैठक में मित्रों के साथ संसार की राजनैतिक गतिविधि पर वहस करना।"

चेतना मुस्करा उठी। बोली—"उद्देश्य तो बुरा नहीं है।"

वत्सला बोली—"ऐसे सुन्दर निश्चय के लिए मैं आपकी हृदय से सराहना करती हूँ।"

थोड़ी देर में जब यह मंडली चेतना के बँगले पर पहुँची, तो गुरुदेव तो दान-पत्र मे परिवर्तन के सम्बन्ध मे एक सालीसिटर से बातें कर रहे थे और ज्ञान सत्य की प्रतीक्षा में बैठा था। चालिस हजार रुपये का गवन करने के सम्बन्ध में मन्मथ के साथ वह किस तरह पेश आये, सत्य से परामर्श लिये विना इस विषय में वह कुछ करना नही चाहता था।

और जोधा?

वह शहनाईवालों को साथ लिये फाटक के अन्दर प्रवेश कर रहा था।

ज्ञान मन-ही-मन पश्चात्ताप कर रहा था—'सत्य की आस्था-निष्ठा का मर्म समझे बिना मैंने मन्मथ की विदग्धता और शालीनता की जो प्रतिष्ठा की, उसी का दुष्परिणाम आज सामने है। सब से अधिक आश्चर्य की बात यह है कि आज माया भी कह रही थी—'मैं क्या जानती थी कि मन्मथ मेरे विश्वास की हत्या करेगा।'

—'बात उसने एक प्रकार से ठीक ही कही। और कहना चाहूँ तो मैं भी कह सकता हूँ कि क्या मैं ऐसा जानता था······?'

—'सचमुच जानता कोई नहीं, लेकिन फिर ज्ञान किसको कहा जाय? जो व्यक्ति पिछले अनुभवों से कुछ भी नही सीखता,

उसका ज्ञान किस काम का ? यही तो माया है। माया अपना कोई उत्तरदायित्व नहीं समझती। उसके कारण ही मैंने उसके भतीजे का पक्षपात किया, सत्य के विवेक की उपेक्षा की। अब *ऐसे समय यदि वह मेरी उपेक्षा करे, तो……?'*

कुछ समझ में नहीं आया कि वह क्या करे और क्या न करे। आदमी जब किंकर्तव्यविमूढ हो जाय, तब ? तब उसे कतिपय नीति-कथनों का स्मरण आ गया—'ज्ञान का प्रज्वलन कर्म है। कर्म करते जाओ तो ज्ञान प्राप्त हो जायगा। कर्म की अखंड-ज्योति सदा जलती रहे, यही तो हमारा आदर्श होना चाहिये। शास्त्र का वचन है—वस्त्र से छानकर पानी पियो और कर्म से शुद्ध हो-होकर जियो।'

—'तो जब तक हम कर्म नहीं करते, हमें अपना ज्ञान हो ही कैसे सकता है ! क्या हम कोरे विचार से ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं ? जब हम कर्म करेंगे, संघर्ष में पड़ेंगे, तभी तो हमें इस बात का ज्ञान होगा कि हमारी स्थिति क्या है ?—हम खड़े कहां हैं—कितने गहरे पानी में हैं।'

—'पक्षी तभी उड़ते हैं, जब वे दोनों ओर के पंखों का प्रयोग करते हैं। आदमी तभी चल पाता है, जब वह दोनो पैरों का उपयोग करता है। इन दोनों पंखों किंवा पैरों में एक दायाँ है, दूसरा बायाँ। कौन कह सकता है कि दायें पैर का उठना कर्म है —और बायें पैर का उठना अकर्म ? कौन कह सकता है कि अनुगत पर विश्वास करना अकर्म है ?'

'किन्तु इतना तो हम समझ ही सकते हैं कि इन दोनो पैरों में दायाँ पैर ही गति में प्रमुख और अग्रिम है। बायाँ तो उसका अनुगत मात्र है। उसकी संज्ञा सहयोगी की है।'

इस प्रकार घुमा-फिरा कर ज्ञान पुनः उसी स्थल पर आ गया, जहाँ से चला था। फलतः वह किसी से कुछ न कह अन्दर चला गया।

चेतना स्युइंगमशीन पर साधना के लिये ब्लाउज सी रही थी। धागे की कोर को दाँत से काटती-काटती नवागंतुक को सामने देख सिर से खिसकी हुई श्वेत शुभ्र साड़ी को मस्तक के ऊपर तक लाकर वह बोली—"अ-आप ?"

"मेरा नाम ज्ञान है। सत्य मेरा मान्यताप्राप्त पुत्र है। इसलिये संकोच और आश्चर्य का तुम्हारे लिये कोई अवसर नहीं है बेटी!"

चेतना उठकर खड़ी हो गयी। नत शिर होकर उसने कहा —"आप सरस्वतीमंदिर में चले जाइये। द्वार पर जो माली बैठा है, आपको वहाँ पहुँचा देगा।"

ज्ञान जब लौटने लगा, तो चेतना ने पुनः हाथ जोड़कर कह दिया—"प्रणाम।"

चेतना की ओर थोड़ा सा घूमते हुए उत्साह के साथ ज्ञान ने आशीर्वाद दिया—"जियो जागो, सदा खुश रहो।"

एक विचार हृदय-देश मे कुलबुलाता, दूसरा शान्त सुप्त निष्क्रिय होकर बरफ की भाँति गल जाता—'अभी कुछ ज्ञात न हुआ होगा। तभी धड़धड़ाते हुए चले आये।...और उनकी भी विलक्षण प्रकृति है। इतना अपने आप में खोया, मूक और निरीह व्यक्ति मैंने जीवन में नहीं देखा।... मगर मैंने अभी देखा ही क्या है!'

विचारों के साथ अधरों पर मुस्कान फूट रही है। नयनों की पुतलियाँ कोरों पर आ जाती हैं और पल भर में ही पलक मुँदने-से लगते हैं।

"हमारा निखिल आनन्द उस क्षण तक प्रच्छन्न बना रहता है, जब तक अधर स्पन्दित नहीं होते। अधरों के बन्द रहने का अर्थ है—सागर शान्त है, मन्दाकिनी मन्थर गति से प्रवहमान है। किन्तु ज्योंही अधर खुलते है, त्योंही सलिल कल्लोल व्यक्त हो जाता है। नयनों की स्थिति दूसरी है। वे मुंदते है, तो जीवन का सारा उत्कर्ष स्वप्न बनकर जैसे ब्रह्मानन्द की संज्ञा पा जाता है।

चेतना पुलकित मन से फिर मशीन चलाने लगी।

"आइये चाचा जी। इधर निकल आइये।"

"बैठे रहो, बैठे रहो। मैं यह कुर्सी लिये लेता हूँ।"

"कहिये, चाची का क्या हाल-चाल है? उनकी तबियत तो ठीक है? भैया अच्छी तरह है? मैं उसे देख तो नही पाया, लेकिन उसकी याद मुझे बराबर आती रहती है। मुझे कितनी *प्रसन्नता हुई, मैं कह नहीं सकता। प्रायः मेरे मन में आता है—मैं* कितना भाग्यशाली हूँ!"

ज्ञान ने देखा—'सत्य निर्विकार है। उसके मन में किसी प्रकार का मैल नहीं।...उसने यह भी अनुभव किया—सचमुच मैंने उसे समझ नहीं पाया था।' सत्य को तोल पाना बड़ा कठिन है। प्रेम से हम उसकी तुलना कर सकते हैं। किन्तु जब वह प्रेम को भी अपने में लय कर ले, तब तो वह अतुलनीय हो जाता है।

वह बोला—"तुम्हें मालूम होना चाहिए कि मैं तुमको लेने आया हूँ।"

सत्य कुछ नहीं बोला; वह विचार में पड़ गया।

मनुष्य जब अपना कर्म-मार्ग तुरन्त निर्धारित नही कर पाता तब वह विचार में पड़ जाता है। तभी वह आगे आने-वाली परिस्थिति की कल्पना करता और उसकी कसौटी पर अपने आप को तौलता है। विचार एक ठोस वस्तु है। ध्यान से देखा जाय, तो यह अखिल ब्रह्माण्ड—यह सारी सृष्टि—प्रारम्भ मे एक विचार था। और आज भी वह एक विचार ही बना हुआ है।

क्षण भर रुककर सत्य ने कहा—"चाचा जी, मैंने अपनी सारी मनःस्थिति उस पत्र में आपको बतला दी है। अब मेरा विचार पिता जी के साथ रहने का है। मैं आपको किसी प्रकार के धर्म-संकट में नही डालना चाहता। भगवान करे भैया हजार वर्ष जियें; स्वस्थ और प्रसन्न रहे; आपकी सारी महत्त्वाकांक्षाओ को पूर्ण करने में समर्थ हों। रह गयी फैक्टरी के देख-रेख की बात। वह आपका कार्य है और आप उसमे कुशल है।"

"मैं यह सब जानता था—सत्तू! तुम्हारी जगह पर अगर मैं होता, तो शायद मैं भी ऐसा ही उत्तर देता। लेकिन तुमको मैं ऐसा सासारिक व्यक्ति नही समझता। तुमको स्मरण होना चाहिये कि एक दिन तुमने ही कहा था—'भविष्य के लिये जरा भी चिन्ता करने की जरूरत नही है चाचा जी। आपसे सलाह लिये बिना मैं ऐसा कोई काम न करूँगा, जिससे आपका जी दुखे।' फिर तुमने मुझसे सलाह लिये बिना, ऐसा निश्चय क्यों किया? मेरी समझ में नही आता, तुम मेरा जी क्यों दुखा रहे हो?"

आगे आनेवाली प्रत्येक परिस्थिति को हम स्वयं उत्पन्न करते हैं। अपनी पिछली बात का स्मरण कर पहले सत्य कुछ मुस्कराया, फिर गम्भीर हो गया। बोला—"आप जानते हैं, ससार के सारे कार्य परस्पर कितने सम्बन्धित और संलग्न होते हैं। मैंने जो

कहा था, उसका एक आधार था। क्योंकि आपका कहना था—"मुझे क्या करना है ? जो कुछ है, अब तुम्हारा ही तो है। तुम्हीं को सब देखना-सुनना है। जरा-सा इसी बात का ध्यान रखने की जरूरत है कि जो भी नीति एक बार तय कर ली जाय, उसे निभाया भी जाय। और तय करने में इस बात को भी अच्छी तरह से सोच लिया जाय कि वह आगे भी बराबर निभ सकेगी या नहीं। अब आप स्वयं ही सोचें, क्या आपने अपने इस वचन का ठीक-ठीक पालन किया है ?"

ज्ञान निरुत्तर हो गया। वह सोचने लगा—'भविष्य की बात कोई नहीं जानता। कौन कह सकता है, कब क्या होनहार है। जहाँ तक वर्तमान का सम्बन्ध है, अगर सत्य मेरा साथ नहीं देता तो वह समाज, जो मेरी प्रतिष्ठा करता है, जिस पर मेरा प्रभाव है, जिसका बड़प्पन मुझे प्राप्त है, वह क्या कहेगा ?—दुनिया क्या कहेगी ? यही न कि जब ज्ञान के समक्ष उसके निकट भविष्य का कोई उत्तराधिकारी न था, तब उसने सत्य को दत्तक पुत्र बनाया और जब भगवान की कृपा से उसको पुत्र प्राप्त हुआ, तब उसने सत्य को निकाल बाहर किया। इतना बड़ा लाञ्छन मैं कैसे सहन कर पाऊँगा ! ऐसे कटु सत्य को मैं कैसे छिपाऊँगा ! दुनिया यही न कहेगी—ज्ञान झूठा है—उसका लोभ मिथ्या है। उसकी कल्पना, मान्यता, सुख-सन्तुष्टि यहाँ तक कि दृष्टि भी मिथ्या है !'

ज्ञान की आँखों में आँसू छलछला उठे। कुर्सी से उठते-उठते उसके मुँह से निकल गया—"मैंने ऐसा नहीं सोचा था—सत्तू ! मैं तो यही समझता था—मेरा सत्य किसी से उधार लिया हुआ नहीं, किसी ऐसी शक्ति से सम्बन्धित नहीं, जो प्रतिक्रियात्मक हो। मैं समझता था, कि अगर मुझसे कभी कोई भूल भी हो जायगी

तो मेरा सत्य उसे सुधार लेगा। लेकिन आज मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारे विचार में समन्वय का कोई मूल्य नही है। तुम निर्माण नहीं चाहते, ध्वस तुम्हें प्यारा है। तुम यह नही देखते कि यह मेरी मर्यादा का प्रश्न है। तुम यह भी नहीं सोचते कि जब दुनिया यह कहेगी कि ज्ञान ने सत्य का मूल्य नही समझा, तब मैं कहाँ मुँह दिखाऊंगा ? तुमने अपने वचन की रक्षा नही की। और इसके उत्तर में तुम्हारा कहना है कि तुमने भी तो नही की। अब मैं तुमसे पूछता हूँ—क्या सत्य की कोई अखण्ड स्थिति नही है ? क्या वह अन्योन्याश्रित होता है ? यह आधारित उत्तर और व्यवहार क्या उस सत्य के अनुरूप है, जिससे इस सारे जगत का नियन्त्रण ही नही, पोषण भी होता है।"

कथन के साथ ज्ञान इस प्रतीक्षा में थोडी देर स्थिर रहा कि सत्य कुछ उत्तर देगा। किन्तु सत्य तो विचार में पड़ गया था। बार-बार उसके मन में आ रहा था कि वह क्यों न कह दे—ऊपर से देखने में यह बहुत अच्छी बात जान पड़ती है कि हम कार्य-निर्वाह के लिए अपने वचन, सिद्धान्त और निष्कर्ष से कभी टस-से-मस न हों। किन्तु हम यह क्यो भूल जाते हैं कि समय के अनुसार बदलने और मुड़ने की लोच जिन वस्तुओं में नहीं होती, वे जड़ और निर्जीव होती हैं।

किन्तु सत्य ऐसी कोई बात इस समय कह न सका। क्योंकि उसका यह तर्क एक ओर यदि उसके पक्ष में था, तो दूसरी ओर वह ज्ञान के पक्ष में भी जा रहा था।

तब विवश हो सत्य ने कह दिया—"चाचाजी आप चाहे जो सोचें, पर अब मैं चाची को किसी प्रकार उलझन में नहीं डालना चाहूँगा। सम्पत्ति-भोग के लोभ में पड़कर अपने भाई के अधि-

कार-क्षेत्र का एक अणुमात्र भी छूना मैं अनधिकार चेष्टा मानता हूँ।"

सत्य का ऐसा उत्तर पाकर ज्ञान अवाक्, स्तब्ध, प्रतिहत और विमूढ़-सा हो, चला गया। सत्य उसके पीछे-पीछे दस कदम तक चलता-चलता बराबर यही कहता रहा—"चाचाजी मुझे गलत न समझियेगा। यही मेरी प्रार्थना है।"

माया धूप में बैठी आजानु विलम्बित केश सुखा रही थी। उसका नवजात शिशु उस फुल्लो की गोद में था जो कभी अपनी तर्जनी से उसके चिबुक को स्पर्श से हिला-हिलाकर और कभी उसके अरुणारे कपोलों को अंगूठे और तर्जनी से किंचित् दबा-दबा कर उसे हँसाने का प्रयत्न कर रही थी।

इतने में किसी ने एकाएक प्रमुख द्वार खोल दिया। फुल्लो बच्चे को पालने में रखकर जो यह जानने को तत्पर हुई कि कौन आया, तो यह देखकर दंग रह गयी कि मन्मथ ने उदास-उदास चुपचाप आगे बढ़कर, अपनी बुआ के पैरों पर सिर रखकर रोना प्रारम्भ कर दिया है!

महीनों बाद अन्त में ऐसा अवसर आ ही गया कि करुणा एकायक सत्यप्रकाश को सामने देखकर बोली—"अरे! यह... यह सत्तू कब आ गया?...सुखी रह, सुखी रह।"

सिर उठाते हुए सत्यप्रकाश ने उत्तर दिया—"मैं बाबू के पास बैठा बड़ी देर से बातें कर रहा था अम्मा!"

करुणा की आँखों में आँसू भर आये। आँचल से उन्हें पोंछती हुई बोली—"चाचा का क्या हाल है?"

"चाचा जी का हाल क्या पूछती हो ! एक हजार आठ श्रीमान् मन्मथनाथ आ गये है। चालीस हजार में से पाँच हजार रुपये तापकर स्वाहा कर चुके है। प्रेरणा के साथ अमृत स्नान करते हुए विचार-समुद्र में डूब गये थे, पर जब यमराज के यहाँ पहुँचे, तो उन्होंने इन्हें अनफिट करके अपने दूतों से कह दिया—'ले जाओ इसको। अभी इसकी इस जीवन की कांक्षा पूर्ण नहीं हुई।' तब दूतो ने फिर इन्हे समुद्र मे फेंक दिया। बहते-बहते लहरों के सहारे किसी तरह तट पर आ लगे। तब से तबियत खराब है। काश-श्वास उभर आया है। पेट में ऐसा दर्द उठता है, जो सध्या समय प्रारम्भ होता है, प्रातः काल होते-होते शान्त होता और घण्टे भर बाद फिर जो करवट लेता है, जो तीन दिन से पहले किसी तरह दम नहीं लेता। रग-रग में पीडा, पुट्ठों और गाँठों में दर्द, आँखों में टीभन और मस्तक मे ऐसे चक्कर आते है कि दस कदम चलना दूर—खड़ा होना भी दुष्कर हो जाता है। खाना बन्द है। वसन्तमालिनी के साथ केवल अनार का रस लेते हैं। रात भर जगने, दिन भर अँगड़ाइयाँ लेने और एक आध झपकी मार देने में कट जाता है। छै घण्टे के पहले कोई झपकी समाप्त नही होती। और हर अँगडाई प्रत्येक झपकी की सीमा पर आकर आँखें मिलमिलाने लगती है।"

करुणा हँसने लगी। बोली "यह सब तू क्या कहे जा रहा है रे सत्य ! तेरी और उसकी पटती नही; तो क्या उसका मतलब यह है कि वह ढोंगी, पाखण्डी और धूर्त है !"

इधर प्रेरणा मन्मथ के साथ घूमने-फिरने की जो खुली छूट पा गयी थी, उसके मूल में मन्मथ का यह आश्वासन निहित था कि वह अनुकूल अवसर प्राप्त करते ही उससे विवाह कर लेगा।

पर झूठ-सच की राम जाने, कहीं उसके कान में किसी ने यह मन्त्र फूंक दिया कि तुम कहाँ फँस गये। अरे वह तो प्रेमशंकर की प्रेयसी रह चुकी है और मैंने तो सुना है कि गर्भवती भी है।

इतने में वेदप्रकाश आकर बोल उठे—"ठीक तो कहता है सत्य! मन्मथ कल्पना की साँसों में जीता, दुनिया को भुलावे में डालकर हँसता और जिसकी बाँह पकड़ता, उसी को रुलाकर छोड़ देता है! विवाह के प्रश्न पर इनकार करके उसने बेचारी प्रेरणा का जीवन संकट में डाल दिया है। एक तो अपयश, दूसरे निराश्रय! जीवन उसके लिये एक पहेली बन गया है।"

प्रेरणा के साथ सत्य की घनिष्ठता कभी नहीं रही, किन्तु जब से वह आई है, तब से उसकी व्यथा-कथा सुनकर वह कभी-कभी विचार में पड़ जाता है। उसके भीतर से एक स्वर उठता है, जो वहीं विलीन हो जाता है। स्वर कहता है—'सहानुभूति का एक अर्थ होता है। उसे मैं समझता हूँ।' फिर दूसरा स्वर उठता है। वह कहता है—'मानवता एक ऐसा केन्द्र-बिन्दु है, जहाँ सहानुभूति का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि न्याय और सन्तुलन मानवता के दो हाथ हैं। मैं प्रेरणा के साथ कुछ नहीं कर सकता।'

अभी एक दिन पूर्व प्रेरणा जो उसके पास आयी थी, तो उसने उसकी पलकों और बरौनियों में आर्द्रता देखी थी। स्पष्ट था कि वह रो चुकी है। वार्तालाप के मध्य में उसकी एक बात उसे भूलती नहीं है—"मैंने तुमसे कभी कोई आशा नहीं रखी। आज भी नहीं रखती हूँ। लेकिन फिर प्रश्न यह है कि मेरे जीवन और भविष्य का क्या कोई मार्ग नहीं है? मेरे इस प्रश्न का क्या मतलब होता है, तुम इसे समझ सकते हो। क्योंकि मन्मथबाबू

अपनी कोई जिम्मेदारी नही मानते । अब तुम्ही बताओ मैं क्या करूँ ?"

प्रेरणा इतना कहते-कहते रो पड़ी थी । उस समय वह कोई निश्चित उत्तर नही दे सका था । किन्तु इस समय जब वेद ने फिर वही प्रश्न उपस्थित कर दिया तो सत्य ने झट से कह दिया—"प्रेरणा विचारी नही और न मन्मथ ही विचारा है । दोनों का अपना-अपना व्यक्तित्व है; अपने-अपने कर्म और उनके फलाफल हैं । वे जब किसी मार्ग पर चलते हैं, तो पथ के प्रति उनका अपना-अपना विवेक रहता है । उसके लिए वे स्वयं उत्तरदायी हैं । अगर उनकी अपनी-अपनी समस्यायें हैं, तो उनके अपने-अपने समाधान भी हैं । सहानुभूति के नाम पर कोई अपना गला नहीं काट सकता और समाज भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए नित्य नया-नया विधान नही बना सकता ।" लाओ अम्मा, कुछ खाने को दो । मुझे बड़ी भूख लगी है आज । ये बातें तो चलती ही रहेगी । सृष्टि का कारवाँ कभी रुका है !"

इतने में शक्ति और ब्रह्म उछलते हुए आकर सत्य से लिपट गये । सत्य ने ब्रह्म को गोदी में ले लिया, तो शक्ति ठुनकने लगी । सत्य ने ब्रह्म से कह दिया—"अगर अब मैं तुमको उतार कर शक्ति को गोद मे ले लूँ, तो तुमको बुरा नहीं लगना चाहिये । समझे भइया !"

क्षण भर के लिए वेद और करुणा उसकी ओर देखते रहे, फिर आप-ही-आप हँस पड़े ।

उस दिन ज्ञान सत्य से कोरा उत्तर पाकर बहुत दु:खी हुआ ।

वह समझ बैठा था कि सम्पत्ति का बल सबसे बड़ा होता है। उसको यह समझने का अवसर न मिला था कि इस ससार मे एक वर्ग ऐसा भी है, जो विचारों, मान्यताओं और सिद्धान्तों के सम्मुख आर्थिक लाभ-सम्बन्धी हिताहितों को विशेष महत्व नही देता; उपभोग के नाम पर किसी के अधिकारो मे हस्तक्षेप नही करता। और प्रलोभन में पड़कर अन्त.करण के विरुद्ध चलना तो आत्म-विश्वास की हत्या समझता है।

घर पहुँचकर ज्ञान ने माया को पूरा विवरण दिया, तो उसने पान का एक बीड़ा मुंह में रखकर कुछ गर्व और अभिमान के साथ उत्तर दिया—"तुम्हारी मति मारी गयी है। मेरी समझ मे नही आता कि तुम सत्य के पास गये ही क्यों? तुमको उसे मनाने की आवश्यकता ही क्या थी? हमें अब कमी किस बात की है? मेरा मुन्ना अच्छा रहे तो अब मुझे कुछ न चाहिए। मैं तो जानती थी कि उसका जन्म लेना सत्तू को कभी सहन न होगा। वही बात सामने आ गयी। पहले मैं सोचती थी कि जब मैंने एक बार उसको अपना पुत्र मान लिया, तो अब मैं उसे अपनी सन्तान की भाँति ही मानूंगी। जैसे और सब है, वैसे वह भी बना रहेगा। लेकिन जब उसको इतना घमण्ड है कि वह न तो तुम्हारा मान रखने को तैयार है, न उसे इस बात का ध्यान है कि यहाँ रहकर उसको कितना सुख मिला है, तब उससे कोई आशा रखना व्यर्थ है। चलो, एक तरह से अच्छा ही हुआ। हम को अब उससे कोई मतलब नही रह गया। मैं अब उसकी परवा नहीं करूँगी।"

ज्ञान विचारलीन था। यह बात उसके ध्यान में न आती थी कि सत्य अपने आदर्श के प्रति कितना दृढ तथा निष्ठावान है।

वारम्यार उसे इसी बात का ध्यान हो आता था कि दुनिया क्या कहेगी ! वह समाज से ही भय रखता था। अपनी आत्मा का स्वर उसके लिये विशेष महत्त्व न रखता था। वह सोचता था कि सत्य ने स्वयं मेरा तिरस्कार किया है, इस बात को कौन देखेगा ! शब्द ही ब्रह्म है, वाह्य जगत में जो स्थिति गगनांचल की है, वही हृदय के बीच में पड़े रहने वाले विचारे मन्मथ की। जैसे गगन शून्य है, वैसे ही विचार-प्रस्फुटन के बिना वाह्य जगत के लिये मनुष्य का हृदय-लोक भी शून्य है।

वास्तव में यह सारा जगत वस्तु-परक है। जब तक कोई विचार प्रकट नही होता, तब तक वह कार्य का रूप भी ग्रहण नहीं करता। और जब तक हृदय के भीतर कोई बात स्पष्टरूप ग्रहण नही कर पाती, तब तक वह शब्द रूप में प्रवर्तित भी नहीं होती। अतः सत्य के सम्बन्ध मे मेरा जो भी पक्ष है, उसकी वास्तविकता का संसार को भला क्या पता चलेगा !

कथन के बाद पलंग से उठकर माया अपने शृङ्गार-कक्ष मे जाती हुई सहसा ठिठक गयी। अभी उसका मन भरा नही था। हृदय में जो अग्नि सुलग रही थी, उसके ज्वलन की कुछ लपटें अभी शेप थी। अपमान के स्फुलिंग उसके अपने हृदय-देश से निकल-निकलकर जैसे कक्ष भर मे उड़ रहे थे। वह अब भी बड़बड़ाती जा रही थी—"समय-समय की बात होती है। सच पूछो तो मेरे मुन्ना के लिए वह एक झगड़े की जड़ था। एक प्रकार से यह अच्छा ही हुआ कि वह खुद ही रास्ते से अलग हो गया। जिस मार्ग से नित्य अनेक बार निकलना पड़ता हो, उसमे कांटों को पडा रहने देना सांप को दूध पिलाना है।"

ज्ञान का रोप अभी शान्त नही हुआ था। अतः उसने समर्थन

के स्वर में कह दिया—"कहती तो तुम ठीक ही हो। थोड़ा-सा यही ध्यान मुझे था कि दुनिया चार मुँह से बोलती है। यह तो कोई न कहेगा कि सत्य ने स्वयं मेरे साथ असहयोग किया है। और यह कहनेवाले बावन पैदा हो जायँगे कि ज्ञान ने सत्य का मर्म नहीं समझा, उसे अवलम्बन नहीं दिया, उसने उसका मान नहीं किया, उसके प्रति एक आशंका, भ्रम और भय ही रखता रहा, उसके साथ ऐसा दुर्व्यवहार किया कि उसको विवश होकर चला ही जाना पड़ा।"

फुल्लो मुन्ना का पलना झुला रही थी और लोटन बरामदे में खड़ा मस्तक पर तर्जनी घसीटता हुआ पसीना टपका रहा था। माया अपनी वेणी में सोने का फूलनुमा क्लिप खोस रही थी। स्वामी की बात सुनकर उसने पहले दर्पण में अपना मुँह देखा, फिर कपोलों पर रोज-पाउडर की एक पुट देती हुई बोली—"दुनिया तो सदा बकती ही रहती है। तुम चाहे जितना भला काम करो, लेकिन हमारे इधर-उधर के लोग नमक-मिर्च मिलाये बिना किसी तरह न मानेंगे। आज की दुनिया ही कुछ ऐसी बन गयी है कि अपने सगे बच्चे तक कह उठते हैं—"अम्मा अपनी दाल में घी ज्यादा डालती हैं, मुझे तो भुटका देती हैं।"

माया की इस बात पर ज्ञान मुस्कराने लगा।

इतने में माया पुनः बोल उठी—"—फिर तुम यह क्यों भूल जाते हो कि आज तुम्हारे पास पैसा है, तो दर्जनों तुमको अपना पिता बनाने के लिए तैयार हो जायँगे और कल कहीं तुम्हारे मिल में आग लग जाय और तुम्हारे पास टका न रहे, तो वे पुत्र बननेवाले तुम्हारी ओर देखना और तुम्हारा दुःख-दर्द सुनना भी

पसन्द न करेंगे। बल्कि सम्भव तो यह है कि तुम्हारे ऊपर हँसें, व्यंग्य-वचन बोलें, चुटकियाँ लें और फब्तियाँ कसें। एक दिन की बात है, मैं गंगा-स्नान करके लौट रही थी कि एक भंगी ने मुझे छू लिया। मैंने जब इसकी शिकायत की, तो वह मुआ बोल उठा—'एक तो मैंने छुआ नही; तुम खुद ही शायद मुझसे छू गयी हो। पर अगर छू भी गयी हो, तो हुआ क्या? मैं भी तो आखिर आदमी ही हूँ। क्या मेरी आत्मा में ईश्वर का अंश नहीं है, जो मैं अछूत हो गया?' अब मैं तुम्ही से पूछती हूँ कि छुआछूत की बात तो अलग रही, अपनी एक रुचि भी तो होती है। पर आज की दुनिया इस तरह की बन गयी है कि व्यक्तिगत रुचि के लिए उसमें कोई स्थान नही रह गया है। मैं तुमसे सच्ची बात कह दूँ, तो तुम बुरा मान जाओगे।"

ज्ञान बोला—"कहो-कहो। मैं इस वक्त सब कुछ सुनने के लिये तैयार हूँ।"

माया बोली—"सत्तू की सब बातें मुझे पसन्द हैं; केवल एक को छोड़कर। पर वह एक बात उसमे इतनी बुरी है कि मैं उसे कभी सहन नही कर सकती।"

ज्ञान ने पूछा—"कौन-सी बात?"

माया ने कुर्सी पर बैठते हुए उत्तर दिया—"उसमें तीखापन बहुत है। उसका तेवर बडा पैना है, उसकी वाणी में कुटिलता अधिक है। जब वह बोलता है तो मुझे डर लगता है कि न जाने क्या कह बैठे! दूसरी बात यह है कि वह सगा किसी का नही है। दूसरों की बात दूर रही, मुझे तो कभी-कभी ऐसा भी मालूम पड़ा, जैसे वह अपने भीतर ही भीतर ऐंठ रहा हो और इसीलिये अपने आप से भी लड़ता रहता हो और तुम जानते हो कि ऐंठ

मैं ब्रह्मा की भी सहन नहीं कर सकती; जिसने हम सबकी रचना की है।"

इतने में मुन्ना रोने लगा। फुल्लो ने उसे उठाकर खड़े-खड़े खिलाने की जो चेष्टा की, तो माया बोल उठी—"लाओ, मुझे दे जाओ और दुधांड़ी में से दूध निकालकर शीशी में भरकर ले आओ।"

ज्ञान विचार में पड़ गया। पत्नी की बात पर उसने कुछ कहा नहीं; लेकिन क्षण भर बाद वह सोचने लगा कि यह भी खूब है। सत्य के सम्बन्ध में कही गयी इसकी एक-एक बात में उसके सारे लक्षण बोलते है। माया ने मुन्ना को अपना दूध पिलाना बन्द कर ऊपर का दूध पिलाना शुरू कर दिया है। विचारलीन ज्ञान अपनी बैठक में आ गया।

मन्मथ अब काफी स्वस्थ हो चला था।

सहसा उसने निकट आकर कहा—"अगर आपका समाधान न हुआ हो तो मैं वह पांच हजार रुपये भी आपको लौटा दूं। मैंने इसका प्रबन्ध कर लिया है।"

ज्ञान ने उसके मुख की भंगिमा को पढते हुए उत्तर दिया—"रुपयों की बात पर मेरी उतनी आपत्ति नहीं; जितनी उस स्वच्छन्दता पर है, जो तुम्हारे-जैसे पढे-लिखे आदमी को इस सीमा तक गैरजिम्मेदार बना देती है कि वह अपराध कर बैठता है।"

मन्मथ का उत्तर था—"अपराध! अपराध की स्थिति दूसरी है। वह अपवाद का दूसरा नाम है। आपको मालूम है, अगर संसार में अपवाद का अस्तित्व न रहे तो संयम-नियम की गाड़ी सदा के लिये ठप हो जाय। हमसे कभी-कभी अपराध होते हैं, इसलिये कि हम प्रायः निरापराध रहते हैं। हमसे गैरजिम्मेदारियां

भी होती हैं, इसलिये कि हम मूलतः जिम्मेदार हैं। सच पूछिये तो आप किसी अपराधी से यह नहीं कह सकते कि वह नित्य अपराध करता है। मुझसे भी अपराध हो गया, मैं मानता हूँ। लेकिन क्या इसका यह अभिप्राय है कि मुझसे ऐसे अपराध सदा होते रहेंगे? फिर समर्थशाली होकर जो व्यक्ति क्षमा नहीं कर सकता, मैं उसकी मानवता पर सन्देह करता हूँ। मैं बिल्कुल ठीक समय पर आया हूँ, जब सत्य ने आपका तिरस्कार किया है। और मैं ठीक समय पर चला जा रहा हूँ, इस दावे के साथ कि संसार में जीवन भर का कोई साथी नहीं होता। और ऐसा नहीं है कि फूंक-फूंक कर कदम रखनेवाले कभी रोते न हों। मैं स्पष्ट उत्तर चाहता हूँ। अभी, इसी समय।"

ज्ञान फिर विचार में पड़ गया। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह बवण्डर और आँधियों से इतना घिर गया है कि अब और आगे बढ़ नहीं सकता। किसी तरह नहीं बढ सकता। वह रुकेगा, उसे रुकना ही पड़ेगा। अन्त में उसने सिर उठाकर कह दिया—"मैंने विचार कर लिया है मन्मथ, मैं तुमको अपने पद पर पुनः नियुक्त करता हूँ।"

गुरुदेव के मानस में अब एक नवीन विचार जन्म ले रहा था। वे सतत् और सर्वत्र प्रत्येक जड-चेतन से यह जानने के लिए उत्सुक थे कि अपने कर्म के तुम कहाँ तक उत्तरदायी हो।

तब एक दिन प्रात.कालीन संध्या समाप्त करते-करते वे मन-ही-मन सोचने लगे—"निष्काम-कर्म करते हुए ही हम इस जगत में शतवर्षीय जीवन प्राप्त करने की कामना कर सकते हैं। इस

प्रकार हम कर्म में लिप्त न होकर निष्काम कर्म के सहारे परमात्मा में मिल सकेंगे। जीवन-कल्याण के लिए इससे पृथक् कोई मार्ग नहीं—कोई गति नहीं।"

जैसे रत्नाकर में हिलोरें उठती हैं तो उनका क्रम परस्पर संलग्न रहता है, उसी भांति एक विचार के पश्चात् दूसरा फिर आ गया—

'परमपद प्राप्त करने का अधिकारी वही होता है, जो जीवन के नाना कर्मों और व्यवहारों मे तत्पर रहने पर भी उनमें लिप्त नहीं होता, उनमें रसमय नहीं बनता, उसको ब्रह्मानन्द नहीं समझ लेता। गगन का यह जो असीम विस्तार है, उसमे सूर्य स्थित है। जैसे वह न किसी पदार्थ का त्याग करता है, न उसे ग्रहण करता है, वैसे ही जिसका मन परम शान्त और निर्मल है, भ्रम-रहित; कांक्षा, चेष्टा और लालसा से मुक्त, वह न किसी के स्पर्श किंवा भोग का अभिलाषी होता है, न उसके सर्वथा त्याग का।'

"तो फिर यह संसार क्यों बना है? इसका अभिप्राय?"

"देवी भागवत के चतुर्थ स्कन्ध, पचीसवें अध्याय की एक मर्मवाणी है—अहो राजेन्द्र, यद्यपि ब्रह्मा इत्यादि देवगण विश्व के अधीश्वर रूप में प्रतिष्ठित हैं, तथापि वे भी इस माया-सिन्धु की कल्लोल मालाओं से भीत, क्रुद्ध और अशान्त होते हैं। कठपुतली के समान वे भी माया के आधीन होकर नाचते है। यदि वह भुवन-स्वामिनी इस चराचर विश्व की रचना न करती और सबसे ऊपर, सदा एक ही रूप में अवस्थित, चैतन्यरूप में, निखिल जीवधारियों की अधिष्ठात्री न बनती, तो यह सम्पूर्ण जगत् जड़वत् होकर तामसी माया में विलय न हो जाता!. इस प्रकार

यदि ब्रह्मादि देवगण भी यदा-कदा इस माया में विलोड़ित हो जाते हैं तो इसमे आश्चर्य की कौन-सी बात है ?"

उस समय एक आम्र-वृक्ष के सघन छाया-वितान के नीचे, एक वृद्धा नारी हृदय में हाहाकार छिपाये, आँखों में आँसू भरे, जोधा से विनय-पूर्वक पूछ रही थी—"ई पूजा-पाठ खतम होय मा भला कत्ती देर लागी ?"

जोधा ने उत्तर दिया—"को जाने कितनी देर लगेगी ! अपने मन की बात ठहरी, नौ बजे तक बैठे रहें—दस बजे तक बैठे रहें —या बारह बजा दें। भगवान को पूजा में देर-सवेर होती ही रहती है।"

"मोर बडका बेटवा बहुत बेराम अहै।" कहती-कहती धोती के आँचल से आँसू पोछती हुई वह बोली—"तनी कहि दे भैया, वोके माथे पर हाथ फेरि के जियाय देयँ। बड़ा पुन्नि होई।"

इतने में धुली हुई सफेद इकलाई धोती पहने गोपी की माँ आ पहुँची और बोली—"अरे, तू अभी बैठी ही है ? एक बार कह दिया—दो बार कह दिया—दस बार कह दिया—पूजा के वक्त मालिक कहीं नहीं जाते ! तीसरे पहर आना। फुरसत होगी तो देख लेंगे। 'देस क मुरदा नाना मऊ क घाट।' जिसे देखो वही दौड़ा चला आता है यहाँ !"

वृद्धा बोली—"बहुरिया की गोदी माँ नान्हे-नान्हे बच्चा अहैं। बेटवा के जी का कुछ हुई गवा, त को उनका रोटी देई, को ई हमार पापी पेट पाली ?"

गोपी की माँ ने कुछ बिगडते हुए उत्तर दिया—"तो क्या दुनिया भर के पेट पालने का हमने टेका लिया है ? हारी-बीमारी सबको होती है, पेट बाँधे कोई नहीं फिरता !"

"ऐसेन जिन कहा बहिन, दइुआ सबका दुःख-दरद समझत अहैं। काहू का निराश करब वइ नाही जानत।"

इधर ये बातें चल रही थी, उधर गुरुदेव के कानो मे वेदवाणी के स्वर गूंज रहे थे—"तुम कर्म करते हुए ही इस विश्व मे सौ वर्ष जीने के अधिकारी रह सकते हो। वह कर्म भी निष्काम होना चाहिए—निष्काम !···छोड दो मेरा ध्यान—मत पुकारो मुझे, अगर तुम दीन-दुखियो का दर्द, निखिल मानवात्मा का पीडा निवारण नही कर सकते !"

"आह ! यह कैसी मर्मवाणी है ! समवेदना से भरा यह कैसा जीवन्त निर्घोष है !" फिर कर्ण-रन्ध्रो पर गुंजित होने लगा एक संगीत-रूपक—

> "गज अरु ग्राह लड़े जलभीतर, गज डूबन नहिं पावे;
> गज की टेर सुनी रघुनन्दन, पांव पयादे धावे।
> *श्याम कैसे गज के फन्द छुड़ाये !"*

उधर संगीत-रूपक प्रसारित हो रहा था, इधर गुरुदेव की आँखों से अश्रुधारा वह रही थी—"यह सारा शरीर, ये हाथ-पैर, यह अस्थिपञ्जर एक दिन राख का ढेर ही तो हो जायगा ! फिर कौन इसका नाम लेगा ! नंगी-भूखी कामनाएँ जीवात्मा को एक दिन फिर इस जगज्जाल मे डाल देंगी। फिर वही रोना कल्पना, फिर वही ईर्ष्या-द्वेष, फिर वही राग-विराग, फिर वही लोभ-लिप्सा, फिर वही क्रीड़ा-कौतुक, लास्य-लीला, परिरम्भण-संभोग, फिर वही वृद्धावस्था, इंद्रिय-शैथिल्य, झुरियों से सिमटा घिनौना मांस-पिण्ड, झुकी कमर, कभी सिर में पीड़ा और उदर व्याधि कभी पिंडुलियाँ और गाँठों में दर्द, कभी खाँसी और दमा,

कमी अतिसार और अर्श, शनैःशनैः शक्ति-क्षय-क्षरण और फिर मरण ! टप-टप-टप ! आँसुओं के गान !"

"ऐसा मत करो देवाधिदेव। अब मेरी कोई कामना नहीं है। मुझे आत्मसात् कर लो परमपिता !"

आत्मा से कोई उत्तर नहीं मिलता। कहीं से कोई स्वर नहीं फूटता।

फिर धीरे-धीरे एक आर्तनाद सुनायी देता है ! नंगे, भूखे, अनाश्रित, अवलम्बनहीन बच्चे, बेकारी से अधमृत हो गये कुटुम्ब, मँहगाई से ऊबकर निरुत्साह-जर्जर हो गये परिवार, नाना रोगों से पीड़ित, नाना करो से प्रताड़ित, दु:खी दरिद्र लोगों का क्रन्दन और दम्भ-मद में चूर, आपसी फूट के परिणामस्वरूप खण्ड-खण्ड होकर भी ईर्ष्या-द्वेष और प्रतिहिंसा की अग्नि में जलने वालों के दारुण अनाचारों का चीत्कार है। शत्-शत् नर-नारी जल-प्लावन से आक्रान्त होकर, नावों के द्वारा गांवों से भाग रहे हैं। उनके पशु डूब रहे हैं ! बच्चे डूब रहे है ! वृद्ध डूब रहे है, तरुण डूब रहे हैं, स्त्रियाँ चिल्ला रही है ! प्रौढ़ और वृद्ध रो रहे है ! फूली हुई लाशें बह रही है ! कहीं-कहीं अनावृष्टि से दुर्भिक्ष पड़ रहा है ! चारे के अभाव मे पशु मर रहे हैं ! वन-उपवनों में उनके अस्थि-पंजरों तथा असहायावशिष्ट शरीरों पर कुत्ते, गृद्ध और चील्हें टूट रही हैं ! सब उनका बचा-खुचा मांस नोच-नोच कर खा रहे हैं, फिर उनमें संघर्ष हो रहा है। कुत्ते भोंकते हैं। गृद्ध-पर-गृद्ध टूटते है। श्मशान पर लाशें जल रही हैं। वृद्धायें जीवित हैं, बच्चों को काल निगल गया है ! बाल विधवायें रो रही हैं, वारनारियों के प्रतिनिधि उन्हें फुसलाकर भगाये लिये जा रहे हैं और पुलिस खड़ी मुसकरा रही है ! गाँवों

में डाका पड़ रहा है और सबइन्सपेक्टर साहब जागते हुए भी सो रहे हैं ! बच्चे रो रहे है ! नव यौवना नारियों की लाज लुट रही है ! चारों ओर रुदन, चारों ओर हाहाकार व्याप्त है ।

'त्राहिमाम्-त्राहिमाम् परम पिता ! तुम यह सब मुझे क्या दिखला रहे हो ! ऐसे ससार में रहकर क्या करूंगा ?'

फिर एक स्वर फूटता है—"कौन कहता है कि आवागमन से रहित होने में ही परमपद मिलता है ? कौन कहता है कि संसार को पीठ दिखाकर भाग जाना ही श्रेयष्कर है, वही मोक्ष का मार्ग है ? और इस विश्वव्यापी निखिल मानवात्मा की सेवा ? बापू का यह आत्मदान ? यह परम पद नही ? सीमाओं और बन्धनो, सम्प्रदायवादी धर्मान्धताओं में भूले भ्रमित मानव ! सेवा करो सेवा, इस जगत की ! जाओ, देखो, पीड़ित मानवता की पुकार कहाँ-कहाँ से आ रही है ! जनता की पुकार ही आज जनार्दन की वाणी है । उसकी मुख्य आवश्यकाओं की पूर्ति ही आज भगवान की उपासना का अंग है । जाओ, उठो, चलो, भागो । कर्म करो कर्म—निष्काम-कर्म !"

द्वार पर तीव्र स्वर में जोधा बोल रहा था—"तुम चली जाओ यहाँ से गोपी की माँ ! जब तुम को बात करने का सहूर नही, तब तुम बाहर आती ही क्यों हो ? तुम न कहोगी तो सरकार से मैं खुद कहूँगा । तुमको पता भी है कुछ ! इस बुढ़िया के पति रामबली ने इस घर की सेवा में तीस बरस बिताये है—तीस बरस ! गायो और भैंसों का दूध दुहा है; उनका गोबर उठाया है, मूत साफ किया है । वह पशुओं के लिए चारा लाया है; उसने आठ-आठ घण्टे कटिया काटी और घास छीली है । इतनी लकड़ी चीरी है कि हाथों मे छाले पड़ गये हैं ! ढोरों को

सानी की है। उन्हें नहलाया-धुलाया है। दूध खा-खाकर तुम्हारी तोंद में जो ये पर्तें पड़ी है, वे उसी की गाढ़ी कमायी का फल है।"

"देखो जोधा, तुम मेरे मुंह मत लगा करो। मैं किसी की कमाई की खादार कभी नही रही, न आज हूँ। सरकार चाहे जो कहलें, तुम जो इस तरह उल्टी-सीधी बातें करोगे, तो मैं तुम्हारा मुँह नोच लूंगी। दाढीजार कहीं का!"

आज बहुत दिनो के बाद जोधा ने गोपी की माँ के मुंह से यह 'दाढ़ीजार' शब्द सुना, तो भीतर-ही-भीतर कुछ उत्साहित-सा हो उठा! क्षोभ प्रकट करते हुए बोला—"ऐसा कहते सरम नहीं आती तुमको गोपी की माँ! बुढ़िया बेचारी का तो बेदा बीमार है। उसकी तो जान जोखिम मे है और तुम गाली-गलौज पर उतारू हो गयी हो! मरोगी तो कीड़े पड़ेंगे—कीड़े, तुम्हारे मुंह में!"

"कीड़े पड़ें तुम्हारे और तुम्हारे जो कोई हो, उसके मुंह में।"

"मेरे अंब कोई नहीं है। जो लोग है भी, वे सब-के-सब मेरे अन्नदाता सरकार है और बिटिया रानी चेतना है। तुम्हारी यह गाली उन्ही पर पडती है, समझीं? अगर इस बुढिया के लडके को कुछ हो गया, तो इसका सराप तुम्ही पर पड़ेगा।"

इतने में खड़ाऊँ पहने हुए गुरुदेव बाहर आ पहुँचे। गोपी की माँ उन्हें देखकर एकदम मे रो पड़ी। बोली—"बाबूजी, यह मुझे गाली दे रहा है।"

जोधा ने कह दिया—"सरकार पहले गाली इसी ने दी थी। यह मेरा बुरा चेतती है।"

गुरुदेव बोले—"देखता हूँ अब तुम्हारी जबान बहुत चलने लगी है, गोपी की माँ!"

गोपी की माँ आँसू पोंछती हुई सोचने लगी—'अब इस घर में मेरा गुजारा कैसे होगा ! सब लोग मुझी को बुरा कहते हैं। बाबूजी कभी नहीं कहते थे, अब वह भी कहने लगे !'

जोधा बोला—"मालिक यह रामबली अहीर की विधवा है। इसका कहीं कोई सहारा नहीं है। इसके पति ने इस घर की तीस बरस सेवा की है। बेचारी घंटे भर से बाट जोहती बैठी रो रही है कि कब सरकार ध्यान-पूजन से उठें और कब यह उनको अपने संग ले जाय। इसका बड़ा लड़का बहुत बीमार है। कौन जाने, शायद सरकार के हाथ का ही जस उसे बदा हो। इस पर यह कह रही थी कि सरकार को तेरे ऐसे लोगों को देखने की फुर्सत नहीं। सरकार यह उसे लौट जाने के लिए डाँट रही थी। सच पूछो तो यह आपकी बड़ाई के नाम पर कलंक है। दीन-दुखियों के साथ आप जो भलाई और उपकार करते हैं, यह हमेशा उसमें बिघ्न डालती है।"

अब गोपी की माँ रोने लगी। बोली—"अब इस घर में मेरी गुजर न होगी।"

गुरुदेव को कभी क्रोध न आता था। व्यक्ति के मन के मैल में भी वे समाज का प्रभाव देखते थे। किन्तु इस समय उनकी भंगिमा कुछ गम्भीर हो उठी। उन्होंने कुछ रूखे स्वर में कह दिया—"रोओ मत गोपी की माँ ! मैं जानता हूँ कि निरन्तर रोनेवालों में अब एक ऐसी जमात भी शामिल हो गयी है, सदा असन्तोष व्यक्त करना ही जिसका पेशा है। यह इसी का दुष्परिणाम है कि जो वास्तव में सहानुभूति और दया का अधिकारी है, सहायता उसको नहीं मिलती—मिलती उसको है, जो रोने-

चिल्लाने में निपुण है। तुम ठीक-ठीक बताओ, जोधा ने अभी जो कुछ कहा, वह झूठ है?"

गोपी की मां के पास गुरुदेव के इस प्रश्न का कोई उत्तर न था। अतः जब उसकी समझ में कुछ न आया, तब वह चुपचाप वहाँ से चल दी!

गुरुदेव सोचने लगे—"संसार के सभी प्राणी अपनी ही प्रकृति से भूखे और नंगे बनते और अपनी ही मौत मरते है। एक अहंकार ही तो है, जो उन्हे खा जाता है! जो अपराधी अहंकारवश अपनी गलती नहीं मानता, मैं उसके लिए क्या कर सकता हूँ?"

फिर कुछ सोचकर अन्त में उन्होने कह दिया—"देखो जोधा, अगर यह काम छोड़ दे, तो चिन्ता न करना। हाँ, इसको खाने भर के लिए सीधा तुम रोज दे आया करना। अच्छा!" फिर इस कथन के साथ ही वे आगे बढते हुए बोले—"चलो बहन, मैं चलता हूँ तुम्हारे साथ।"

श्यामबली एक ऐसी पुरानी चारपाई पर लेटा हुआ था, जिसके नीचे मूंज के टुकड़े बुनावट से पृथक् होकर लटक रहे थे। चारपाई पर एक ऐसी जीर्ण-जर्जर दरी बिछी थी, सीलन में पडी रहने के कारण जिसकी पर्तों की कोरें सड गयी थी। सिरहाने एक पुराना तकिया था, जो मैल खाते-खाते चीकट हो गया था। बदन पर एक फटी, चिथड़े-चिथड़े हो रही रजाई पड़ी थी। पहले तो वह उसको फेंक-फेंक देता था। पर अब उठाकर फेंकने तक की शक्ति भी उसमे न रह गई थी। कोठरी मे शुद्ध वायु के प्रवेश का एक ही मार्ग था उसका द्वार, इस कारण उसमें प्रकाश का अभाव था। फिर भी थोड़ी देर बैठे रहने पर इतना बोध हो जाता था कि यह रोगी पड़ा है और यह उसके पास अन्य लोग

बैठे हैं। कोठरी के ऊपर धन्नियों से संलग्न जाले पड़ गये थे, जिनमें फँसी हुई एक शुष्क निष्प्राण मक्खी अब तक विद्यमान थी। एक धन्नी टूट गयी थी, जिसको स्थिर रखने के लिये एक थूनी खड़ी कर दी गई थी। धरती पर बैठने के लिए कुछ फटे-पुराने बोरे पड़े हुए थे, जिनमे सीलन की दुर्गन्ध फूट रही थी।

श्यामवली सत्ताईस दिन से बीमार था। न तो उसकी चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध हुआ था, न दूध और फलों के रस आदि की कोई व्यवस्था हुई थी। न स्वच्छता का ध्यान था, न शुद्ध वायु का। उसके शरीर मे दुर्बलता इतनी अधिक थी कि वह अब ककालमात्र रह गया था। छाती और गले मे कफ अड़ा था। इस कारण वह जब कभी बोलने का प्रयत्न करता, तो उसके कण्ठ-गत शब्द स्पष्टरूप से फूट नही पाते थे।

वृद्धा माँ के पास पैसो का अभाव अवश्य था, पर उसकी बहू के पास चाँदी के कुछ रुपये अब तक पड़े हुये थे, जिन्हें वह किसी प्रकार खर्च नही करना चाहती थी। उसके आगे कई बच्चे थे; जिनमें एक लड़की तो विवाह योग्य हो गयी थी। पास-पड़ोस के तीन व्यक्ति श्यामवली की चारपाई के निकट धरती पर बैठे हुए थे जिनमें दो स्त्रियां थी, एक पुरुष। तीन-चार वर्ष से लेकर सात-आठ वर्ष के कई बच्चे रोटी के लिये रिरिया रहे थे; पर वहाँ कोई उनकी पुकार सुननेवाला न था। उनकी माँ अलग बीमार पड़ी थी। दो दिन से उसने सिर तक नहीं उठाया था।

बच्चो का रुदन देखकर एक पड़ोसिन ने कहा—"चलो मेरे घर, शायद थोड़े सत्तू पड़े ही हों।"

गुरुदेव ने ज्योंही अन्दर प्रवेश किया, त्योंही क्षणभर में उन्होंने समझ लिया कि रोगी की स्थिति वड़ी डांवाडोल है। उसके प्राण संकट में है। कभी वे सोचते—क्या यही हमारा वास्तविक महादेश है ! ग्लानि-दग्ध द्रवित हृदय की सारी करुणा छिपाकर चारपायी के निकट पहुँचते-पहुँचते उन्होने पूछा—"कैसी तवियत है वेटे ?"

रोगी ने तो कोई उत्तर नहीं दिया; पर एक प्रौढ़ा पड़ोसिन धीरे से वोल उठी—"अव जवाव कौन दे ! कथा समाप्त हो रही है ! जान पड़ता है परान कही अटके हुए है। यह देखो आँखो से आँसू निकल रहे हैं।"

इतने में वृद्धा ने आर्द्र कण्ठ से कह दिया—"आज भिनसारेन सेई वोल वन्द अहै। वर्चंक कोनो आसा नाहीं।"

"ऐसा मत कहो, वहिन ! आशा की उमर वहुत वडी होती है। जीवन जव तक समाप्त नहीं हो जाता, आशा की वेल तव तक मुरझाती नही।"

वृद्धा वोली—"आपै तक मोर वस वा। आपै मोर भगवान अहै।" और फिर आँचल से आँसू पोंछने लगी।

गुरुदेव कुछ नहीं वोले। एक वार मन में आया भी, कह दें—'धीरज मत छोड़ो।' पर फिर उन्होंने यह भी नही कहा। फिर चलने की चेष्टा मे इतना भर कह दिया—"प्रभू की लीला को कौन जान सकता है !"

झोपड़ी के वाहर ताँगा खड़ा था। वाहर आकर वे उसी पर वैठ गये।

ताँगा तुरन्त चल पडा।

पास के राजमार्ग पर पहुँचते ही शराव की एक दूकान

दिखाई पडी। गुरुदेव क्षण भर ठिठक गये—'अनुचित संगति का अवलम्ब !' फिर तुरन्त ताँगा खड़ा करवा कर निस्सकोच उसमें घुस गये।—'संकट-काल में यह सब देखना बुद्धिमानी नही।' दूकान में टेबिल के ऊपर फोन रखा हुआ था। देखकर उन्होंने कह दिया—"एक रोगी असाध्य अवस्था में पड़ा हुआ है। फोन करना चाहता हूँ।"

दूकानदार गुरुदेव से थोड़ा परिचित था। इसलिये वह उनके सम्मान में उठकर खड़ा हो गया और बोला—"शौक से कीजिये।"

गुरुदेव ने खडे-ही-खडे डायल के छेदों में अँगुली डाल, अकों की संगति मिलाते हुए, रिसीवर कान से लगा लिया। एक-दो बार कड़क-कड़क की आवाज के उपरान्त उन्होने सुना—"डाक्टर तिवारी स्पीकिंग।"

गुरुदेव बोले—"मैं हूँ—गौरीशकर। मेरा एक काम आज तुमको करना होगा।"

"आज्ञा कीजिए गुरुदेव !"

"देखो तिवारी, 'किशोरी बिल्डिग' के पास एक झोपड़ी तुमने देखी होगी। उसके अन्दर एक रोगी बिल्कुल मरणासन्न अवस्था में पडा हुआ है। पर प्राणान्त होने मे अभी थोड़ी देर जान पड़ती है। जैसे भी हो, उसे बचाना है।"

"जो आज्ञा गुरुदेव, मैं अभी जाता हूँ।"

और डाक्टर तिवारी दस मिनट के अन्दर श्यामवली के पास जा पहुँचे। हालत देखकर वे मन-ही-मन कम्पित हो उठे। किन्तु तुरन्त उन्होंने उसे एक इन्जेक्शन दे दिया और कहा—"किसी को मेरे साथ भेज दो, तो मैं और दवा दे दूँ।"

वृद्धा उनके निकट जाकर धीरे से बोली—"बाबू, बेटवा बचि जाई ?"

डाक्टर साहब पहले चिन्ता में पड़ गये—'क्या उत्तर दूं ?' फिर कुछ सोचते और रूमाल नाक पर लगाकर दरवाजे की ओर बढ़ते हुए, उन्होंने उत्तर दिया—"मैं सिर्फ दवा करता हूँ। बचाता तो वही है।"

एक नि श्वास के साथ बुढिया के मुँह से निकल पड़ा—"हे भगवान !"

उसके साथ बैठे हुए आदमी से कहा—"डाकदर साहब के हियाँ ते तनी दवा तो लै आ बचवा।"

पास बैठी हुई स्त्रियों ने भी कह दिया—"हाँ-हाँ मुलई, चला जा, चला जा। बडा पुन्नि होई।"

शरीर पर एक पुराना अलवान डाले मुलई बोला—"जाने को मैं इन्कार नही करता; लेकिन मेरे ख्याल से तो अब सब बेकार है। न गुरुजी ईश्वर हो सकते है, न ये डाक्टर साहब। अब शरीर में रहा ही क्या है? भला चाहो तो चारपाई से उतारकर धरती पर लिटा दो। कहीं ऐसा न हो कि खटिया पर ही प्रान निकल जाँय।"

वृद्धा बोली—"ऐसन जिन कहा मुलई ! जब तक स्वासा, तब तक आसा। तू दवा त लै आ।"

मुलई चला गया।

इसी समय फाटक के भीतर एक ताँगा आ पहुँचा, जिसमें साधना, मुन्नू और इन्द्रनाथ बैठे थे। मुन्नू को लिये हुए साधना सीधी चेतना के पास चली गयी और इन्द्रनाथ गुरुदेव की ओर मुड़ गये।

कक्ष में अगरु-सौरभ सुवासित हो रहा था। गुरुदेव एक असमियाँ अण्डी वदन पर डाले, कुशासन पर ध्यानलीन बैठे थे। उनके सामने गीता का गुटका था, जिसके ऊपर तुलसी की माला रखी थी। खिचडी हो रहे केश छोटे-छोटे समान रूप से कटे हुए और नयन मुंदे हुए थे। दोनो हाथ जघाओ पर इस प्रकार रखे थे कि दाँयें हाथ का अँगूठा अनामिका की दूसरी पोर पर स्थिर था और बायें हाथ की मुट्ठी लगभग आधी बन्द थी। मस्तक पर एक जलकण झलक रहा था।

इन्द्रनाथ उनको इस स्थिति में देखकर वही लौट आये, जहाँ चेतना और साधना बैठी ई थी।

साधना ने पलँग पर तहाये हुए बिस्तर के सहारे आसन जमा लिया था। बाटलग्रीन वर्ण का दुशाला जो वह ओढ कर आयी थी, वही अपने पैरो पर डाले हुए थी। कमरे की उत्तरी दीवार पर एक ऐसा कलेण्डर टंगा हुआ था, जिसमें कबूतर का जोडा शाल्मलि वृक्ष की डाल पर सटा बैठा था। उसके निकट ही एक खूंटी थी, जिस पर तहाई हुई एक साड़ी रखी थी। पलँग के विपरीत दूसरी ओर जहाँ चेतना स्युइग मशीन पर सिलाई कर रही थी, निकट एक गोष्ठी-कुर्सी खाली रक्खी थी, जिस पर उसी दिन का दैनिकपत्र तहाया हुआ पड़ा था। अन्दर आते-आते उसे उठाकर इन्द्रनाथ कुरसी पर बैठते हुए बोले—"कोई खास बात ?"

मुन्नू आंगन में रखे गमलों के पास उड़ती हुई तितली को पकड़ने की चेष्टा कर रहा था। चेतना ने कुछ प्रसन्नता-सी प्रकट करते उत्तर दिया—"खास बात यह है फूफाजी कि महाराजिन

यह कह कर यहाँ से चली गयीं कि अब इस घर में मेरी गुजर न होगी।"

"चलो, यह बहुत अच्छा हुआ। मैं कई दिन से यह अनुभव कर रहा था कि इसकी बातों में सदा कोई-न-कोई अभिप्राय छिपा रहता है। हमारे श्रमजीवी वर्ग में आज यह एक दोष आ गया है। धीरे-धीरे उसके मानस में यह विचार घर कर गया है कि जहाँ तक बन सके, काम कम करो और मजदूरी बढ़ाने तथा जिस तरह हो सके पैसा लूटने की चेष्टा अधिक करो। ये महाराजिन ऐसे वर्ग की प्रतिनिधि होने लायक हैं।"

कथन के साथ किंचित् मुस्कराहट भी इन्द्रनाथ के मुख पर झलक उठी।

बात सुनकर यकायक आसन बदलती हुई साधना बोली—"देखती हूँ मजदूरवर्ग को निरन्तर कोसने और जब देखो तब उस पर फबतियाँ कसने की तुम्हारी आदत पड़ गयी है।"

पनडब्बा निकाल, उसमें से एक पान मुँह में रखकर फिर उस पनडब्बे को साधना की ओर बढ़ाते-बढ़ाते इन्द्रनाथ ने उत्तर दिया—"मैं जो निरन्तर अनुभव करता और प्रत्यक्ष देखता हूँ, वही कहता हूँ। मुझे इस वर्ग से कोई द्वेष तो है नहीं। मैं यह भी नहीं मानता कि मैं स्वतः किसी अन्य वर्ग का हूँ। मैं भी तो एक श्रमिक हूँ; पर उचित से अधिक की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना मुझे कभी स्वीकार नहीं हो सकता।"

"इसलिए न तो तुम कोई मकान बनवा सके, न अन्य किसी प्रकार का वैभव अर्जित कर पाये। असफल-व्यक्तियों-की-सी एक साधुता ही तो है, जो उनसे कहला देती है कि अंगूर खट्टे हैं।"

प्रयत्न करते-करते सयोग से तितली मुन्नू के हाथ पड़ गयी।

तब साधना के निकट आकर वह बोला—"अम्मा देखो, मैंने तितली पकड़ ली।"

साधना ने पनडब्बे से पान ले लिया। फिर वह मुन्नू की ओर देखकर हँसती हुई सोचने लगी—'रंगीनियाँ सबको अच्छी लगती हैं; बच्चे हों, चाहे बड़े।' और मुन्ना से उसने कह दिया—"उन्हीं को दिखलाओ, जिन्हें यही सब खेल अधिक रुचिकर हैं।"

जननी का संकेत पा मुन्नू इन्द्रनाथ के पास जा पहुँचा। इन्द्रनाथ ने पहले उसे वक्ष से लगाया, प्यार दिया, फिर उससे पूछा—"तितली तुमको अच्छी लगती है ?"

मुन्नू ने सिर हिला कर समर्थन प्रकट कर दिया।

तब इन्द्रनाथ ने कहा—"तो इसे छोड़ दो।" कथन के साथ वे सोच रहे थे—"एक प्यार ही तो है, जो हमें बन्धन से मुक्त कर देता है।"

मुन्नू ने तितली को छोड़ दिया। फलतः वह खिड़की पर जा बैठी। एक बार उसने अपने पख खोले, फिर जोड़ लिये।

इन्द्रनाथ ने पूछा—"तुमको इसका बैठना अच्छा लगता है, या पख खोलना और मूँदना ?"

मुन्नू विचार में पड़ गया। इन्द्रनाथ सोचने लगा—"प्रेम की अनेक संज्ञायें हैं। एक ओर वह निर्बन्ध होता है, तो दूसरी ओर स्वच्छन्द।"

तितली उड़ गयी और मुन्नू कुछ उदास हो गया।

इतने में जोधा ने आकर बतलाया—"मेरी तो कुछ भी समझ में नहीं आता। सरकार धरती पर ही बिछौना डलवाकर लेट गये हैं। न हिलते-डुलते हैं, न कोई जवाब देते हैं। मेरी तबियत बहुत घबड़ा रही है। न जाने क्या होनहार है! मैं अभी साग

लेने गया था तो बाजार में श्यामवली की माँ मिल गयी। मैंने जो पूछा कि श्यामवली का क्या हाल है, तो वह बहुत खुश देख पड़ी। कह रही थी—"उनहिन बचाइन है। हमरे लिए तौ वह भगवान हुइगे।"

इन्द्रनाथ, साधना और चेतना गुरुदेव को देखने के लिए एक चिन्ता और आशंका के साथ उसी कमरे की ओर चल दिये।

गुप्त धन

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

प्रभात प्रकाशन
दिल्ली : मथुरा